कल्याण
वर्ष ३०
अङ्क ८

पुण्यसे स्वर्गभोग और पुण्य क्षीण होते ही पतन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
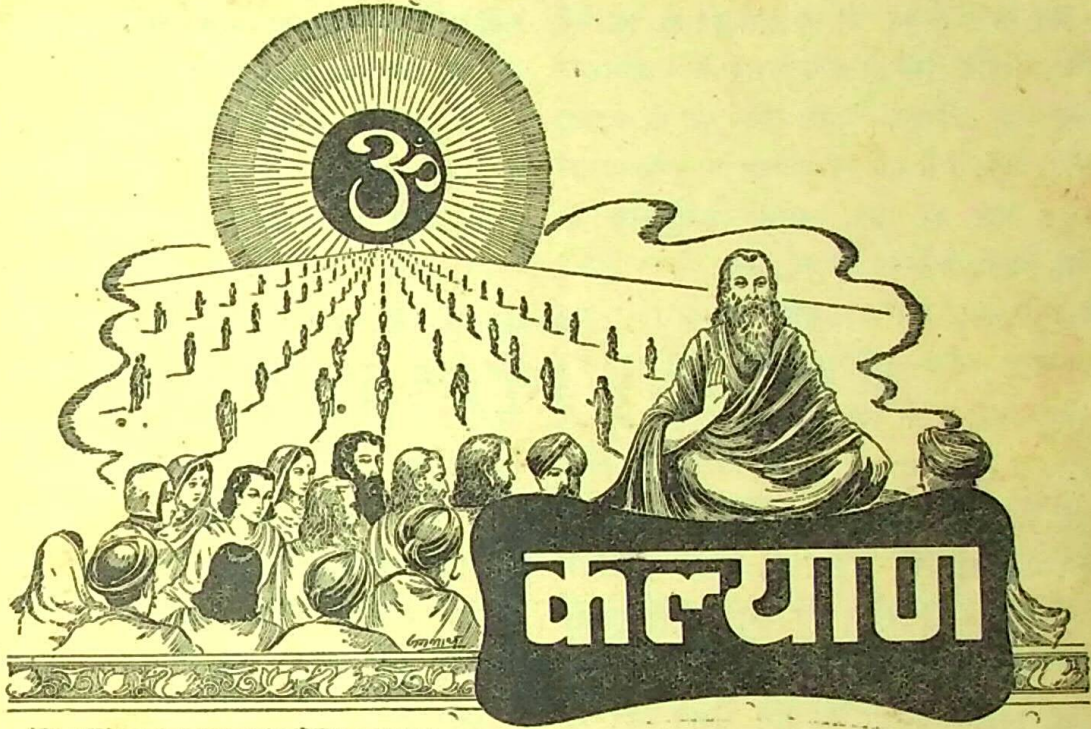
पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥
(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० | गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०१३, अगस्त १९५६ | संख्या ८ पूर्ण संख्या ३५७

पुण्यसे स्वर्गभोग और पुण्य क्षीण होते ही पतन

वैदिक यज्ञकर्म करते जो पुण्यपुरुष, मनमें रख काम ।
वे उस पुण्यकर्मके फलसे जाते हैं सुरेन्द्रके धाम ॥
वहाँ स्वर्गके भोग भोगते जबतक पुण्य न होते शेष ।
पुण्य क्षीण होते ही गिरकर आते पुनः मृत्युके देश ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ९ । २०-२१ का सार)

याद रक्खो—तुम जो यह सोचते हो कि मेरी आर्थिक स्थिति ऐसी हो जायगी तब मैं भजन-स्मरण करूँगा। या जीवनका अमुक काम पूरा हो जायगा, अमुक दायित्वसे मैं मुक्त हो जाऊँगा, अमुक व्यापारमें सफलता प्राप्त कर लूँगा, अमुक प्रकारके गुरु मिल जायँगे, अमुक प्रकारका एकान्त सुन्दर स्थान मिलेगा और उसमें सुन्दर सात्त्विक आश्रम बनाकर रहूँगा, तब भजन-स्मरण करूँगा—सो यह तुम्हारे मनका धोखा है।

याद रक्खो—जो काम तुम वर्तमान अवस्थामें नहीं कर सकते, किसी कमीको पूर्ण कर लेनेके बाद करना चाहते हो, वह भविष्यमें अमुक अवस्था प्राप्त होनेपर कर सकोगे—इसका क्या विश्वास है; क्योंकि कमीका अनुभव तो वहाँ भी होगा। तब उस कमीकी पूर्तिकी प्रतीक्षामें भजनको टाल दोगे।

याद रक्खो—तुम्हारी मनचाही स्थिति मिल ही जायगी, इसका कोई निश्चय नहीं है। यह भी सम्भव है कि वैसी स्थितिकी प्रतीक्षा-प्रतीक्षामें ही तुम्हारा शरीर छूट जाय। तुम्हारे चाहनेसे अमुक स्थिति नहीं मिल सकती। प्रत्येक सांसारिक परिस्थिति—भोग पूर्व-कर्मानुसार मिलता है। इसलिये यदि किसी स्थितिकी, वस्तुकी प्रतीक्षामें रहोगे तो भजन बनेगा ही नहीं। इस प्रतीक्षाको साधनका एक बड़ा विघ्न समझो।

याद रक्खो—पूर्वकर्मवश, मङ्गलमय भगवान्के मङ्गल विधानके अनुसार जो परिस्थिति तुम्हें मिली है; जरा भी देर न करके उसी परिस्थितिमें जीवनके असली कार्य भगवान्के भजन-स्मरणको शुरू कर दो और उसे बढ़ाते चले जाओ।

याद रक्खो—जो भजन करना चाहता है; उसको कोई भी परिस्थिति बाधा नहीं दे सकती। तुम मनके धोखेमें आकर ही परिस्थितिका बहाना करके भजन नहीं करते और अनुकूल परिस्थितिकी आशा-प्रतीक्षामें मूल्यवान् जीवनको खोते रहते हो।

याद रक्खो—संसारमें कोई भी अवस्था पूर्ण नहीं है। सबमें किसी-न-किसी कमीका रहना अनिवार्य है, इसलिये तुम किसी भी अनुकूल परिस्थितिको प्राप्त करोगे, उसीमें कमीका अनुभव करोगे और तब वह भी प्रतिकूल प्रतीत होने लगेगी, उस कमीको मिटानेके लिये किसी दूसरी परिस्थितिकी आशा-प्रतीक्षा करके उसकी प्राप्तिके प्रयत्नमें लगोगे—यों कमीकी अनुभूति, उसकी पूर्तिकी आशा-प्रतीक्षा, उसके लिये प्रयत्न—इसीमें तुम्हारा वह मानवजीवन—जो भजन करके भगवान्को प्राप्त करनेके लिये भगवत्कृपासे मिला था,—नष्ट हो जायगा। फिर पछतानेसे कुछ भी लाभ होगा नहीं।

याद रक्खो—तुम जिस एक स्थितिमें कमीका अनुभव करके उस कमीकी पूर्तिवाली दूसरी स्थिति चाहते हो, क्या पता है कि वह दूसरी स्थिति तो प्राप्त न हो और इस वर्तमान स्थितिमें भी कमी आ जाय; इसका भी नाश हो जाय। उस अवस्थामें तुम यह सोचोगे और चाहोगे कि यही स्थिति बनी रहती तो ही अच्छा था। अब भी यह स्थिति प्राप्त हो जाय तो मैं सुखी हो जाऊँ। पर कौन कह सकता है कि वह पूर्ववाली स्थिति भी प्राप्त होगी या नहीं।

याद रक्खो—यदि नहीं प्राप्त हुई तो तुम्हारा दुःख और अशान्ति और भी बढ़ जायगी और तुम भजन नहीं कर सकोगे। और यदि प्राप्त हो गयी तो फिर पहलेकी भाँति उससे अच्छी किसी दूसरी स्थितिकी प्रतीक्षा करने लगोगे।

याद रक्खो—तुम यदि भजन-स्मरणको किसी अमुक वस्तु या परिस्थितिकी प्रतीक्षापर छोड़ दोगे तो तुमसे भजन बनेगा ही नहीं। प्रत्येक परिस्थितिको

भगवान्‌के भजन-स्मरणके अनुकूल मानकर उसीमें भजन करने लगोगे तो फिर भजनके प्रभावसे प्रतिकूलताका भाव ही नष्ट हो जायगा और सभी परिस्थितियोंमें अनुकूलताका अनुभव होगा तथा भगवान्‌का अखण्ड भजन होने लगेगा।

याद रक्खो—जब भजनका आनन्द मिलने लगेगा और वह तभी मिलेगा, जब भजनके प्रभावसे अन्तः-करणका मल नष्ट होकर वह निर्मल हो जायगा, तब तो तुम्हारे लिये भजन जीवन बन जायगा। तुम्हारा प्रत्येक क्षण और प्रत्येक चेष्टा भजन बन जायगा। एवं ऐसा होनेपर मानव-जीवनकी परम और चरम सिद्धि तुम्हें प्राप्त हो जायगी।

'शिव'
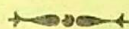
मन-इन्द्रियोंको वशमें करके परमात्माको प्राप्त करे

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कठोपनिषद्‌में शरीरको रथ, इन्द्रियोंको घोड़े, मनको लगाम, बुद्धिको सारथि, इन्द्रियोंके विषयोंको रथके चलनेका मार्ग और जीवात्माको रथी बतलाया है। परमात्मासे बिछुड़े हुए जीवात्माको इसी रथके द्वारा विषयोंके मार्गपर चलकर ही परमात्माके धाम—अपने घर पहुँचना है। रथको घोड़े ही चलाते हैं, परंतु घोड़े उच्छृङ्खल होकर उल्टे मार्गपर भी जा सकते हैं और सीधे परमात्माके मार्गपर भी चल सकते हैं। जिस रथका सारथि विवेक-युक्त, अप्रमत्त, स्वामीका आज्ञाकारी, लक्ष्यपर स्थिर, बलवान्, रास्तेका जानकार और घोड़ोंको लगामके सहारेसे अपने वशमें रखकर—इच्छानुसार सन्मार्गपर चला सकता है, वह रथ अपने लक्ष्यपर पहुँच जाता है। इसी प्रकार जिस पुरुषकी बुद्धि विवेकसम्पन्न, जीवात्माको परमात्माके धाममें ले जानेके लिये तत्पर, परमात्मामें लगी हुई, मन-इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेवाली, सदा सावधानीके साथ सबको साधन-मार्गपर ले चलनेवाली होती है, वह पुरुष इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरता हुआ भी—जैसे सत्-सारथिके द्वारा संचालित रथ मार्गपर चलकर लक्ष्यकी ओर बढ़ता रहता है, वैसे ही—परमात्माकी ओर बढ़ता रहता है। इन्द्रियाँ तथा मन यदि साधकके अपने वशमें हों और साधक उन्हें भगवत्सम्बन्धी विषयोंमें ही लगाये रक्खे तो इस प्रकार उन इन्द्रियोंका विषयोंमें विचरण करना हानिकारक नहीं है, प्रत्युत लाभदायक है; क्योंकि ऐसा करके वह परमात्माके समीप पहुँच जाता है। जब-तक शरीर, इन्द्रियाँ और मन हैं, तबतक उनको विषयोंसे सर्वथा अलग कर देना सम्भव नहीं है, अतएव साधक उनमेंसे राग-द्वेषको हटाकर विशुद्ध बना ले और फिर उनका यथायोग्य साधनरूप विषयसेवनमें उपयोग करे। भगवान्‌ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु　विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा　प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे　सर्वदुःखानां　हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो　ह्याशु　बुद्धिः　पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६४-६५)

'परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

यह है वशमें किये हुए [illegible]क्तिका साधन

इन्द्रियोंके सद्विषयोंमें विचरण करनेका परिणाम ! जिन मन-इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रिय-सुखकी आशासे विषयोंका उपभोग करके दुःखोंको निमन्त्रण दिया जाता है, उन्हीं मन-इन्द्रियोंसे उन्हें साधनमें लगाकर परमात्माकी प्राप्ति की जा सकती है; परंतु जिसकी बुद्धि असावधान है, निर्बल है, इन्द्रियोंके तथा मनके अधीन है, प्रमत्त है, लक्ष्यशून्य है और परमात्माको भूली हुई है; उसको यही शरीर-रथ विपरीत मार्गमें अग्रसर होकर वैसे ही सर्वथा पतनके गर्तमें गिरा देता है, अथवा किसी भयानक दुष्कर्मरूपी पत्थरोंसे भिड़ाकर मानव-जीवनको चूर-चूर कर डालता है, जैसे असावधान और निर्बल सारथिके द्वारा लगामको प्रचण्ड बलवाले घोड़ोंके अधीन छोड़ देनेपर घोड़े उस रथको सारथि और रथीसहित गहरे गड्ढेमें डाल देते हैं, अथवा किसी दीवालसे टकराकर चकनाचूर कर डालते हैं ।

विचार करनेपर यह पता लगता है कि इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही बहिर्मुखी हैं । वे नित्य निरन्तर विषयोपभोगके लोभमें पड़ी हुई विषयोंकी ओर दौड़ती और मन-बुद्धिको भी बलपूर्वक खींचती रहती हैं । अतः उनको सदा-सर्वदा सावधानीसे मनके सहारेसे यानी मनको उनके साथ न जाने देकर वशमें रखनेका प्रयत्न करना चाहिये । इन्द्रियाँ वशमें न होंगी और मन उनका साथ देने लगेगा तो वे बुद्धिको वैसे ही विचलित कर देंगी जैसे जलमें पड़ी हुई नौकाको वायु डगमगा देती है । भगवान्‌ने गीताजीमें यही कहा है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥
(२ । ६७)

'क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है ।' फिर भगवान् कहते हैं—

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(२ । ६८)

'इसलिये हे महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है ।'

जिस प्रकार चतुर और सुयोग्य केवट नावको भँवरसे तथा प्रबल जलधारामें बहनेसे बचाकर, खास करके, पालके सहारेसे वायुको अनुकूल बनाकर सावधानीसे डाँड़ खेता हुआ मार्गपर अग्रसर होता रहता है तो नाव सुरक्षित अपने स्थानपर पहुँच जाती है । इसी प्रकार भ्रम-प्रमादादिसे रहित सुयोग्य एकनिष्ठ बुद्धि मन इन्द्रियोंसे युक्त शरीर-रथको राग-द्वेषरूपी भँवर तथा कामनारूपी तीव्रधार जलके प्रवाहसे बचाकर सत्संगरूपी पालके सहारेसे भगवत्कृपारूप वायुको अनुकूल बनाकर आगे बढ़ता रहता है, तो वह सुरक्षित भगवान्‌के धाममें पहुँच जाता है ।

अतएव साधकको चाहिये कि वह अपनेको शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धिका स्वामी मानकर उनके वशमें न हो, बल्कि इन्द्रियोंको पतनकारक तथा अनावश्यक उनके मनमानी विषयोंमें जानेसे रोककर, उनमें रहे हुए राग-द्वेषसे उन्हें छुड़ाकर मनको वशमें करे और बुद्धिको एक परमात्मनिष्ठ निश्चयात्मिका बनाकर परमात्मामें स्थिर कर दे । यथार्थतः ऐसा हो जानेपर तो मन-इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले सभी कार्य सहज ही भगवत्-कार्य बन ही जायँगे । परंतु इसके पहले साधनकालमें भी इस आदर्शके अनुसार साधन करनेसे चित्तकी प्रसन्नता—निर्मलता प्राप्त हो जाती है और उसके द्वारा भगवत्प्राप्तिका मार्ग सुलभ और प्रशस्त हो जाता है । अतः साधकका कर्तव्य है कि वह इस प्रकार साधन करके मानव-जीवनके परम लक्ष्य परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करे ।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरि-स्मरण । सम्पादक 'कल्याण'के पतेसे दिया हुआ आपका पत्र यथासमय मिल गया था । पत्र लंबा होने और अवकाश कम मिलनेके कारण पत्रका उत्तर देनेमें विलम्ब हो गया, इसके लिये किसी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) आपके पारिवारिक एवं आजीविकासम्बन्धी हालचाल मालूम किये । आपके बहुत चेष्टा करनेपर भी घरमें मेल स्थापित न हो सका तो इसे भगवान्‌का विधान समझकर संतोष करना चाहिये । आपके माता-पिता आपसे अलग रहते हैं और अलग रहनेमें ही संतुष्ट हैं तो कोई बात नहीं, अलग-अलग रहें ।

(२) आप श्रीकृष्णके उपासक हैं और 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इस मन्त्रका रोज १८ माला जप कर लेते हैं—यह बहुत उत्तम है । किंतु माला फेरते समय मन जो इधर-उधर फिरता रहता है और केवल जिह्वा चलती रहती है, इसमें सुधार करनेकी आवश्यकता है । मनपूर्वक किया हुआ साधन अधिक लाभकारी है । इसलिये मनको गीता अध्याय ६ श्लोक ३५-३६ के अनुसार अभ्यास-वैराग्यके द्वारा वशमें करना चाहिये । जिन-जिन सांसारिक विषयोंकी ओर वह जाता है उनसे खींचकर बारंबार भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम होनेके लिये उसे भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यके चिन्तनमें लगाना चाहिये । श्रद्धा-प्रेम होनेपर मन इधर-उधर नहीं जा सकता ।

उपर्युक्त मन्त्रका मानसिक जप तो हर समय किया जा सकता है, पर मलमूत्र-त्यागके समय मुँहसे उच्चारण नहीं करना चाहिये ।

आप 'गीतातत्त्वविवेचनी' पढ़ते हैं और मेरी मान्यतापर आपकी श्रद्धा है—यह आपकी साधुता है । गीताका मननपूर्वक अध्ययन करना साधनमें बहुत ही सहायक है । आप सत्पुरुषोंके, भक्तोंके जीवन-चरित्र पढ़ते हैं और पढ़ते समय आपके नेत्रोंसे बहुत अश्रुपात होने लगते हैं, यह बहुत अच्छी बात है । भक्त-चरित्र पढ़कर हृदयका द्रवीभूत होना—यह प्रेमका ही लक्षण है । इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर वह भगवान्‌की ओर शीघ्र लग सकता है ।

यह सब होनेपर भी 'दैनिक जीवनमें काम-क्रोध बहुत उत्पन्न होते हैं'—लिखा सो इनके नाशके लिये भगवान्‌से श्रद्धा-भक्तिपूर्वक करुणाभावसे स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये ।

आपको वेतन कम ही मिलता है । यदि कहीं अधिक वेतनकी अच्छी जगह मिले तो इस कामको छोड़ देना चाहिये । आपने लिखा कि ऐसी परिस्थितिमें बहुत दुःख होता है और भगवान्‌का विस्मरण होकर मन चकराता है सो इस प्रकारकी कष्टमय परिस्थिति आनेपर भी मनमें धैर्य रखना चाहिये । भगवान्‌की स्मृतिमें कमी नहीं आने देनी चाहिये । जो भी परिस्थिति प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का विधान मानकर संतोष करना चाहिये । यदि लड़के काम करनेयोग्य हों तो उनको किसी कार्यमें लगाना चाहिये एवं ऐसी कष्टकी स्थितिमें पत्नीको भी सिलाई आदिका काम कराकर कुछ उपार्जनमें लगाना चाहिये; क्योंकि आजकलके समयमें एक आदमीके वेतनसे आठ प्राणियोंका भरण-पोषण होनेमें कठिनाई ही रहती है ।

(३) आप अपनेको भक्तिका साधन करने वाला समझते हैं सो बहुत ठीक है । आपने भक्तिका साधन

ही करना चाहिये । आपने कर्मयोग और भक्तियोगका तथा भक्ति और सांख्ययोगका भेद जानना चाहा सो ठीक है । सम्पूर्ण कर्मोंमें और पदार्थोंमें फल और आसक्तिका त्याग करके अपने लिये शास्त्रमें विहित कर्मोंको करना और उनकी सिद्धि या असिद्धिमें समभाव रहना—यह कर्मयोग है; इसमें कर्मकी प्रधानता है (गीता अध्याय २ श्लोक ४७-४८ देखें) । इसके साथ भक्ति भी हो तो उसे भक्तिप्रधान कर्मयोग कहते हैं । इसके दो भेद हैं— १ भगवदर्थ कर्म और २ भगवदर्पण कर्म । जो शास्त्रविहित कर्म भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌के आज्ञानुसार किये जाते हैं उनको 'भगवदर्थ' कहते हैं (गीता ११ । ५५; १२ । १० देखें) और जो कर्म करते समय या बादमें भगवान्‌के अर्पण कर दिये जाते हैं उनको भगवदर्पण कहा जाता है (गीता ९ । २७; १८ । ५६-५७ देखें) । इस प्रकार भक्तियोगमें भक्तिकी प्रधानता रहती है और कर्मयोगमें कर्मकी प्रधानता । गीता अध्याय २ श्लोक ४७-४८ में केवल कर्मयोग है और अध्याय १० श्लोक८, ९, १० में केवल भक्ति है तथा अध्याय ११ श्लोक ५४-५५ में भक्तिप्रधान कर्मयोग है । भक्ति और कर्मयोग—ये दोनों एक साथ किये जा सकते हैं । भक्तिमती गोपियोंमें भक्तिकी प्रधानता थी, पर साथमें वे अपने घरका काम-काज भी करती थीं । वे भगवान्‌के पावन नाम और गुणोंका स्मरण, कीर्तन और गान करती हुई ही सब काम किया करती थीं । (देखिये श्रीमद्भागवत १० । ४४ । १५) । इस प्रकार उनके जीवनमें भक्तिप्रधान कर्मयोग था ।

आपने जिन उद्धव, चैतन्यमहाप्रभु, नरसी मेहता आदि भक्तोंका उल्लेख किया है, ये प्रायः सभी भक्तिमार्गके भक्त हुए हैं । किसी-किसीके भक्तिके साथ कर्म भी चलते थे; परंतु सांख्यमार्गके साथ भक्तिमार्ग नहीं चल सकता; क्योंकि सांख्यमार्गमें अद्वैतवाद है और भक्तिमें द्वैतवाद । ये दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं । सांख्ययोगमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं—इस प्रकारकी मान्यता और सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका अभाव रहता है और भक्तियोगमें स्वामी-सेवक आदि भावकी मान्यता तथा सब कर्मोंको भगवदर्थ या भगवदर्पण-बुद्धिसे करनेका भाव रहता है । विस्तारसे जानना चाहें तो गीतातत्त्वविवेचनीकी भूमिकामें 'सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाका स्वरूप' प्रसङ्ग तथा गीतातत्त्वविवेचनीमें अध्याय ३ श्लोक २ और अध्याय ५ श्लोक २ की व्याख्या देखनी चाहिये । साथ ही गीताप्रेससे प्रकाशित 'तत्त्व-चिन्तामणि भाग १' में 'गीतोक्त संन्यास या सांख्ययोग तथा गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप' शीर्षक लेख पढ़ने चाहिये ।

आपके लिये गीता, तुलसीकृत रामायण, भागवत, विष्णुपुराण, पद्मपुराण, नारदभक्तिसूत्र, शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र तथा अन्य गीताप्रेसकी पुस्तकें—इन ग्रन्थोंको मननपूर्वक पढ़ना अधिक उपयुक्त हो सकता है । भक्तिके साधकको वेदान्तके ग्रन्थोंका अध्ययन करना विशेष आवश्यक नहीं है ।

आपने पूछा कि किस प्रकार किस दृष्टिसे हरेक कर्म करना चाहिये सो ठीक है । आपके लिये भक्तिका साधन करना और भगवान्‌की सेवाके रूपमें अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करना सर्वोत्तम है । अभिप्राय यह कि प्रातःकाल और सायंकाल तथा जब भी अवकाश मिले, एकान्तमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे भगवान्‌के नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान और उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका मनन करना तथा गीता-रामायण आदि शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये एवं अपने न्याययुक्त कर्तव्य-कर्मोंको करते समय तथा हर समय चलते-फिरते, खाते-पीते हुए भी भगवान्‌के नाम-रूपको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर स्मरण रखते हुए ही सब काम करो और सम्पूर्ण प्राणियोंमें भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी निःस्वार्थ-

भावसे सेवा करनी चाहिये । हर समय यही दृष्टि रखनी चाहिये कि दूसरोंका हित किस प्रकार हो ।

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्रका जप पवित्र अवस्थामें तो उच्चारणपूर्वक किया जा सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं । किंतु अपवित्र अवस्थामें इस मन्त्रका उच्चारण करनेका शास्त्रमें निषेध है । पर मानसिक जप करनेमें शास्त्राज्ञाका भङ्ग नहीं होता, अतः मानसिक जप सब समय किया जा सकता है ।

(४) मालिक जो यह चाहते हैं कि अपना नौकर अपना पैसा न चुरावे और ईमानदार रहे, यह मालिककी कृपा है और आपके लिये लाभकी वस्तु है । उनकी इस इच्छाका आदर करना चाहिये । किंतु वे जो यह चाहते हैं कि यह बाजारसे १०० का १०१ खरीदे और ९९ बेचे यह उचित नहीं है । आपको ऐसा नहीं करना चाहिये और इसके लिये मालिकसे विनयपूर्वक हाथ जोड़कर प्रार्थना कर देनी चाहिये कि ऐसा करनेके लिये मैं लाचार हूँ । एवं इसके बदलेमें जो भी कष्ट सहन करना पड़े, सह लेना चाहिये; किंतु बेईमानी कभी नहीं करनी चाहिये ।

(५) कोई भी मनुष्य किसीसे द्वेष रखकर उसे कष्ट पहुँचाता है तो वह उसे कष्ट पहुँचानेमें निमित्त बनकर पापका ही भागी होता है । उस व्यक्तिको जो कष्ट या नुकसान होता है—वह उसके पूर्वकृत पापकर्मका फल है, दूसरा व्यक्ति तो निमित्त बनकर केवल अपने सिरपर पापकी गठरी रख लेता है । बिना प्रारब्धके किसीको नुकसान या कष्ट हो नहीं सकता । इस रहस्यको समझकर जो कुछ भी हो उसमें दुःख नहीं मानना चाहिये । बल्कि उसे अपने परम दयालु प्रभुका विधान मानकर प्रसन्न होना चाहिये । जो व्यक्ति अपने साथ द्वेष रक्खे, बदलेमें उससे प्रेम ही करे, वह अपना बुरा करे तो भी उसका उपकार ही करे। साधक चाहे क्षत्रिय हो या वैश्य-सबके लिये उपर्युक्त श्रेष्ठ व्यवहार करना ही उचित है । कहाँ न्याययुक्त प्रतीकार करना आवश्यक हो तो उसके हितकी दृष्टिसे अपने अधिकारके अनुसार प्रतीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं ।

(६) आपका मित्र-परिवार दस-बारह वर्षसे प्रतिदिन आध्यात्मिक पुस्तकोंका अध्ययन कर रहा है, जप भी करता है, यह बड़ी उत्तम बात है; किंतु शास्त्रने निषेध किया है, इसलिये 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' या 'ॐ श्रीकृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन-वल्लभाय नमः' मन्त्रका अपवित्र अवस्थामें उच्चारण करके जप करना उचित नहीं है । मानसिक जप हर समय कर सकते हैं ।

(७) अनिच्छा और परेच्छासे जो कुछ भी सुख-दुःख और घटना प्राप्त हो, उसे भगवान्का विधान समझ लेनेपर फिर काम-क्रोध नहीं हो सकते । हरेक परिस्थितिमें भगवान्की दयाका दर्शन करना चाहिये और ऐसा समझना चाहिये कि जो परिस्थिति प्राप्त हुई है, यह भगवान्की ही भेजी हुई है और वे परम कृपालु भक्तवत्सल भगवान् हमारे हितके लिये ही करते हैं । उनका प्रत्येक विधान हमारे लिये मङ्गलमय ही होता है । इस प्रकार समझनेपर फिर न तो क्रोध आ सकता है और न कामना ही रह सकती है । जो सदा-सर्वदा सबको अपने परम प्रेमी भगवान्का ही स्वरूप समझता और सर्वत्र उनका दर्शन करता रहता है उसके तो ये काम-क्रोध आ ही कैसे सकते हैं ! रामायणमें श्रीशिवजीने कहा है—

> **उमा जे राम-चरनरत बिगत काम मद क्रोध ।**
> **निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥**

आपने लिखा कि 'प्रतिदिन दो प्रकारकी विचारधारा-का संघर्ष होता है, तब दानवताकी ही जय होती है' सो जब ऐसा हो तभी उसे अपने साधनमें अत्यन्त बाधक और बुरा काम समझकर उसके लिये मनमें अत्यन्त पश्चात्ताप करना चाहिये ।

(८) 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' 'ॐ नमो वासुदेवाय' 'वासुदेवाय नमः'—ये तीनों ही जप-मन्त्र हो सकते हैं । अधिकतर शास्त्रोंमें पहलेवाले 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्रका ही उल्लेख मिलता है । जिस मन्त्रमें ॐ हो उसे अपवित्र अवस्थामें उच्चारण करनेमें शास्त्रका निषेध है, अतः 'वासुदेवाय नमः' का तो किसी भी समय उच्चारण किया जाय तो कोई आपत्ति नहीं, पर उपर्युक्त अन्य दो मन्त्रोंको हर समय जपें तो मानसिक ही जपना चाहिये । इन मन्त्रोंका जप करते हुए श्रीविष्णु भगवान्‌का ध्यान करना तो बहुत उत्तम है, अवश्य करना चाहिये । × × × ।

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार मालूम हुए । जपके विषयमें आपने जो-जो बातें लिखीं, सब पढ़ ली हैं; उनका उत्तर इस प्रकार है—

१. सर्दीकी ऋतुमें यदि सायंकाल स्नान करना असह्य हो तो हाथ-पैर और मुँह धोकर भी गायत्रीका जप कर सकते हैं, संध्या भी कर सकते हैं ।

२. जप करते समय कण्ठ और जिह्वा शुष्क होने लगे तो थोड़ा जल पी लेना चाहिये या दो-चार लौंग चबा लेना चाहिये ।

३. आप लिखते हैं कि मैं जप मानसिक करता हूँ और यह भी लिखते हैं कि जिह्वा और कण्ठ थक जाते हैं। ये दोनों बातें परस्पर मेल नहीं खातीं; क्योंकि मानसिक जपमें कण्ठ और जिह्वासे कोई काम ही नहीं लिया जाता, तब वे दोनों थकेंगे क्यों ? आगे चलकर आप यह भी लिखते हैं कि जिह्वा अपने आप हिलने लगती है, इससे भी यही समझमें आता है कि आपका जप मानसिक नहीं होता; आप कण्ठ और जिह्वासे होनेवाले जपको ही मानसिक मानते हैं ।

४. आपने लिखा कि 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्रका जप करूँ तो कष्ट कम होता है, पर विचार तो यह करना है कि साधनमें कष्ट होना ही क्यों चाहिये । यह तो तभी होता है जब साधक अपने साधनको ठीक समझ नहीं पाता है और सुनी-सुनायी बातोंपर मनमाने तरीकेसे साधन करता रहता है । वास्तवमें साधन अपनी योग्यता, विश्वास और रुचिके अनुरूप हो, वही साधन है । वह साधकको कभी भाररूप मालूम नहीं होगा । उसमें थकावट कभी नहीं आयेगी और उत्तरोत्तर रुचि बढ़ेगी । साधन अपने आप होगा । उसका न होना असह्य हो जायगा । जगनेसे लेकर शयन करने-तक एवं साधनके आरम्भसे मृत्युपर्यन्त हर समय साधन-ही-साधन होगा । उसकी कोई भी क्रिया ऐसी नहीं होगी, जो साधनसे रहित हो ।

आप जप करना अपना स्वभाव बना लें, उसपर जोर डालनेकी कोई जरूरत नहीं; प्रेमपूर्वक करते रहें । संख्या शीघ्र पूर्ण करनेका या अधिक करनेका आग्रह छोड़ दें । शान्तिपूर्वक मन्त्रके अर्थको समझते हुए और उसके भावसे भावित होकर जप करें, ऐसा करनेपर थकावटका सवाल नहीं आ सकता । जबतक जप या अन्य कोई भी साधन बोझा मालूम होता है, तबतक उसमें थकावटकी प्रतीति होती है ।

५. आपने लिखा कि पहले मेरा मन थोड़ा मन्त्रके अर्थ और भगवान्‌के चिन्तनमें लगने लगा था, परंतु अब सारा जोर उच्चारणकी ओर ही लग जाता है । अतः आपको विचार करना चाहिये कि ऐसा क्यों होता है । विचार करनेपर मालूम हो सकता है कि इसका कारण जल्दीबाजी अर्थात् थोड़े समयमें अधिक संख्या पूर्ण करनेका ध्येय है; जो कि भगवान्‌के चिन्तनका महत्त्व न जाननेके कारण होता है । इसलिये भाव और ध्यान-सहित ही जप करना चाहिये, चाहे वह संख्यामें कम ही हो ।

६. आपका आहार सदासे ही सादा है, यह अच्छी बात है। चाय भी कोई लाभप्रद नहीं है। इसके स्थानपर गायका दूध पीना अच्छा है।

७. मन्त्रका उच्चारण आप अपनी जानकारीके अनुसार शुद्ध करनेकी चेष्टा रखते ही हैं; यह बहुत ठीक है। जप करते समय आप पवित्र होकर बैठते हैं, यह भी ठीक है। साथ ही मनको भी पवित्र रखनेका ख्याल रखना चाहिये। मनमें बुरे और व्यर्थ संकल्पोंका न आना ही मनकी पवित्रता है।

८. जप और भगवत्-चिन्तन करते समय साधकको चाहिये कि सब प्रकारकी चाहसे रहित होकर बैठे। किसी भी व्यक्ति और वस्तुमें आसक्त न हो। सब प्रकारके प्रलोभनोंका और भयका त्याग कर दे। ऐसा करनेसे शान्ति और सामर्थ्य बढ़ सकती है। फिर थकावट होना सम्भव नहीं है।

९. यदि स्त्रियाँ मासिकधर्म होनेपर भी छूआछूतका विचार नहीं रखतीं, अपवित्रता फैलाती हैं तो उनपर किसी प्रकारका दबाव न डालकर अपना भोजन शुद्धतापूर्वक अलग अपने हाथसे बना लेना चाहिये। इसका कारण कोई पूछे तो बड़ी शान्तिके साथ कह देना चाहिये कि मेरी रुचि ही ऐसी है, क्या करूँ? इसके अतिरिक्त न तो उनके व्यवहारसे दुखी हो, न किसीको बुरा-भला कहे और न किसीपर क्रोध ही करे। ऐसा करनेमें उनका भी हित है और आपका तो हित है ही। ऐसा व्यवहार करनेपर स्त्रियोंको भी अशुद्धि फैलनेसे सावधानी हो सकती है।

१०. स्त्रियोंमें लज्जाका भाव जाता रहा है, इसके लिये आपको दुःख नहीं करना चाहिये। संसारमें इस प्रकारके परिवर्तन समय-समयपर हुआ करते हैं, साधकको तो अपने कर्तव्यमें सावधान रहना चाहिये। उससे कोई न पूछे, तबतक दूसरेका कर्तव्य बताना उसका काम नहीं है। इसी प्रकार दूसरेकी त्रुटियोंको देखना भी साधकका काम नहीं है। उसे तो चाहिये कि अपने कर्तव्यका पालन करते हुए दूसरोंके मनकी धर्मानुकूल बातको पूरी करता रहे और दूसरोंसे किसी प्रकारके सुखकी आशा न रक्खे।

११. कन्याका विवाह समय आनेपर संयोगसे ही होता है, यह बात ही अधिक ठीक है; तो भी कन्याके माता-पिता आदि अभिभावकोंको अपनी ओरसे चेष्टा करते रहना चाहिये। अपने कर्तव्यपालनमें उनको शिथिलता नहीं करनी चाहिये। भाग्यका विश्वास चिन्ता मिटानेके लिये है, किसीको कर्तव्यच्युत या कर्महीन आलसी बनानेके लिये नहीं।

१२. श्राद्धके योग्य ब्राह्मण उपलब्ध न हों तो जो मिलें उनमेंसे अच्छा देखकर सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणको भोजन करा देना चाहिये। वह यदि प्याज वगैरह खाता हो तो उसका उपाय करना आपके हाथकी बात नहीं है। आप अपने घरमें उसे वे वस्तुएँ न खिलावें, इतना ही कर सकते हैं। श्रद्धा तो किये जानेवाले कर्मके प्रति होनी चाहिये। आप तर्पण प्रतिदिन करते हैं, यह बहुत अच्छा है।

(३)

सादर हरिस्मरण,

आपका कार्ड मिला। समाचार मालूम हुए। आपके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

श्वासजप भी नामजपकी एक विधि है; नामजपसे कोई अलग बात नहीं है। नामजप जिह्वासे उच्चारण करके होठ हिलते हुए किया जा सकता है तथा होठ न हिलाकर केवल जिह्वाके द्वारा भी किया जा सकता है, जो दूसरेको सुनायी नहीं देता। इसके अतिरिक्त श्वासके द्वारा, नाड़ीके द्वारा और अनहदनादके द्वारा तथा मनके द्वारा भी जप किया जा सकता है।

श्वासके द्वारा जप करनेकी विधि भी कई प्रकारकी है। जैसे—

१. श्वास भीतर जाते समय एक नाम और आते समय एक नाम श्वासके साथ भावनासे जोड़ देना ।

२. श्वास जाते-आते समय जो उसका कण्ठोंसे स्पर्श होता है और शब्द होता है उसमें नामकी भावना करना । इसमें कोई 'हरे राम'के पूरे मन्त्रका और कोई आधे मन्त्रका जप कर लेते हैं । कोई-कोई इससे भी अधिक कर लेते हैं । जैसा जिसका अभ्यास । सबके लिये एक विधि नहीं है ।

मनको एकाग्र करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य दो उपाय बतलाये गये हैं । इन दोनोंमें केवल अभ्यास-द्वारा की हुई एकाग्रता स्थायी नहीं होती । अतः वैराग्य ही प्रधान है । भोगोंमें वैराग्य होनेपर भगवान्‌में और उनके नाममें प्रेम हो जाता है । तब जप करनेमें मन स्वतः लगता है, उसकी चञ्चलता मिट जाती है । बिना मनके किये हुए पाठ, स्तुति और जप आदिका महत्त्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है, पर मनसहित किये जाने-वाले साधनका महत्त्व बहुत अधिक है । जैसे वैज्ञानिक रीतिसे वस्तुओंका उपयोग करनेमें और साधारण बिना तत्त्व समझे उनके उपयोगमें बड़ा भारी अन्तर है ।

(४)

सादर हरिस्मरण ! आपका कार्ड मिला । समाचार ज्ञात हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

१. मनुष्यका कर्तव्य अवश्य ही समस्त प्राणियोंके हितमें लगे रहना है । इस विषयमें आपने विभिन्न घटनाओंका उदाहरण देकर पूछा, अतः इस विषयमें लिखा जाता है—

(क) महामारी और टी. बी. के परमाणु जो मनुष्यके शरीरमें रहते हैं, उनको नष्ट करना न तो हिंसा ही है और न किसीका अहित ही है, ये प्राणियों-की श्रेणीमें नहीं हैं ।

(ख) जमीनमें पैदा होनेवाले कीड़े, टिड्डी, विषैली मक्खी और मच्छर आदि, जो राष्ट्र और प्रजाकी हानि करनेवाले जीव हैं, इनके हितकी रक्षा करते हुए सर्वहितकारी उपायोंसे इनको दूर करना तो हरेक मनुष्यका कर्तव्य है और इनको दण्ड देना आवश्यक होनेपर नष्ट करना न्यायकर्ता राजाका कर्तव्य है । वह राष्ट्र और प्रजाके हितकी दृष्टिसे विधानके अनुसार अपना कर्तव्य पालन करते हुए यदि किसीको शारीरिक दण्ड देता है या किसीका वध करता है, किंतु राग-द्वेष, लोभ-मोह आदिके वशमें होकर नहीं करता तो वह सबका हित ही करता है । वास्तवमें तो बात ऐसी है कि यदि सचमुच सर्वहितकारी पूर्ण धर्मात्मा राजा हो तो उसकी प्रजामें ऐसी परिस्थितियाँ ही प्रायः नहीं आ सकतीं । इस विषयमें रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें 'रामराज्य' और महाभारतके विराट्पर्वमें 'युधिष्ठिरके प्रभाव' का वर्णन देखना चाहिये ।

किसीके अत्याचारको भी भगवान्‌की कृपा समझकर जो उसका बदला नहीं चाहता और प्रतिकारीका भी हित ही चाहता है, प्रसन्नतापूर्वक उसके (जीवमात्रके) द्वारा प्राप्त होनेवाली प्रतिकूलताको सहन कर लेता है वह तो सर्वश्रेष्ठ है ही; पर यह विधान स्वयं अपने लिये है, दूसरोंके लिये नहीं ।

२. **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः'**

यह सर्वथा सत्य है कि प्रह्लादके साथ किसीका वैर-भाव नहीं रहा । प्रह्लादको जो यातना दी गयी वह वैरभावसे नहीं, किंतु अपने स्वार्थके लिये दी गयी, तथापि हिंसक जीव भी उसकी हिंसा नहीं कर सके । इसी प्रकार बुद्धदेव और गाँधीजीसे भी किसीका वैरभाव नहीं था, मुसलमान भी गाँधीजीसे प्रेम करते थे, कोई भी भय नहीं करता था । यद्यपि गाँधीजी प्राणिमात्रके लिये अहिंसक नहीं थे, केवल मनुष्योंके ही हितमें रत थे, तथापि उनका इतना प्रभाव था । जिनकी अहिंसामें पूर्ण

प्रतिष्ठा हो जाय उसके प्रभावमें तो संदेह ही क्या है। जगत्‌से सदाके लिये सबके मनसे हिंसाके भाव समाप्त हो जायँ, यह उस सूत्रका अर्थ और भाव नहीं है। सूत्रमें तो केवल यही बात कही गयी है कि उसके निकट दूसरेका वैर नष्ट हो जाता है।

३. हिंसा, द्वेष और असत्य आदिके उन्मूलनका उच्चतम उपाय पूछा सो श्रद्धाभक्तिपूर्वक निष्कामभावसे भजन-ध्यान करनेसे इन दुर्गुणोंका नाश हो सकता है। इन सब दुर्गुणोंका कारण सुखकी इच्छा और दुःखका भय है। इनको मिटा देनेपर भी समस्त अवगुणोंका नाश हो सकता है। मनुष्य इस नाशवान् क्षणभङ्गुर जड शरीरको अपना स्वरूप मानकर भोगोंमें आसक्त हो गया है। अतः भगवान्‌की कृपासे मिले हुए विवेकका आदर करके यदि वह यह समझ ले कि मैं शरीर नहीं हूँ और किसी भी सांसारिक पदार्थसे, किसी भी प्राणीसे और किसी भी परिस्थितिसे मुझे कभी भी सुख नहीं मिल सकता तथा दूसरा कोई भी मेरे दुःखका कारण नहीं है, तो सभी दुर्गुण नष्ट होकर उसका हृदय प्रेमसे भर जाय; फिर उसके द्वारा जो कुछ भी हो, सब सर्वहितकारी काम ही हो।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि एक मनुष्यके ऐसा हो जानेपर सम्पूर्ण जगत्‌के अवगुण नष्ट हो जायँगे; पर यह कहा जा सकता है कि उसके लिये सम्पूर्ण जगत् शुद्ध हो जायगा।

४. सत्यके विषयमें आपने पूछा कि क्या कोई अनुचित प्रतिज्ञा की जाय तो उसका भी पालन करना चाहिये? इस विषयमें धैर्यपूर्वक विचार करना चाहिये। विचार करनेपर समझमें आ सकता है कि जो सत्यवादी स्वार्थरहित है वह किसीसे अनुचित प्रतिज्ञा करेगा ही क्यों? अनुचित प्रतिज्ञा तो स्वयं असत्य है फिर उसका पालन करना सत्यका पालन कैसे हो सकता है?

कोई चालाक आदमी वचन ले ले तो सोचना चाहिये कि मैंने इसे वचन दिया क्यों? यदि वह सचमुच सत्यप्रतिज्ञ होगा तो खूब सोच-समझकर ही किसीको वचन देगा। वचन दे देगा तो अपना सर्वस्व खोकर भी वचनका पालन करेगा, इसीमें उसका महत्त्व है।

श्रीदशरथजीका जीवन तो आदर्श है। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाका पालन करके वास्तवमें कोई हानि नहीं उठायी। रामसे वियोग होना तो निश्चित था। उन्होंने जो प्रतिज्ञाका पालन किया, उसका परिणाम तो उनके लिये बहुत उत्तम ही हुआ।

अविश्वास और धोखेसे भरा हुआ संसार वास्तविक सदाचारी सत्यनिष्ठ साधकका कुछ भी बुरा नहीं कर सकता। वह अपने सत्यकी और अपनी रक्षा करता हुआ एवं विश्वके प्रति श्रेष्ठ कर्तव्यका पालन करता हुआ अपनी जीवनयात्रा शान्तिपूर्वक व्यतीत कर सकता है, इसके लिये उसे इच्छारहित नित्य जीवन प्राप्त करना और इस वर्तमान, क्षणभङ्गुर परिवर्तनशील अशान्त जीवनसे असङ्ग होना आवश्यक है।

पाछे पछिताने व्यर्थ

जानो है न जीवन को साँच पुरुषारथ यों, काँचके प्रकाश जग भ्रममें भुलाने व्यर्थ।
बँधत अपार अभिलासनके पासनमें, दुःखद त्रिताप जरिबो ही सुख माने व्यर्थ॥
माने हैं न संतनके अंत सुखकारी बैन, चैन नहिं पावैं घूमि घूमि चकराने व्यर्थ।
'साधक' बखानै मन मानै तौ गुमानै मारि, भजु भगवानै नत पाछे पछिताने व्यर्थ॥

—श्रीसाधक मिश्र व्यास

भगवान्‌से प्रार्थना करें

(दि० महर्षि श्रीकार्तिकेयजी महाराज)

किसी कालमें जब यह नाम-रूपात्मक प्रपञ्च नहीं था, प्रकृतिका आधार केवल शुद्ध सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका सत् स्वरूप ही था । अब यह प्रश्न उठता है कि वह सत् कैसा है—अल्प है या महान् ? तब सत्‌की परिभाषापर ध्यान देनेसे वह तत्त्व भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें अपरिवर्तनीय, सदा-सर्वदा एकरस रहनेवाला, सर्वव्यापक सिद्ध होता है। जो किसी कालमें रहे और किसीमें न रहे, उसको कालबाधित कहते हैं और जो सब कालमें रहे उसको काला-बाधित कहते हैं। कालबाधित वस्तु आद्यन्तवाली होती है और जिसका किसी कालमें किसी प्रकारका अभाव होता ही नहीं, उसे अनादि-अनन्त कहते हैं और अनन्त (असीम) वस्तु दो होती ही नहीं; क्योंकि दोका संनिवेश होगा तो दोनों ही ससीम होंगी और सीमा-वाला तत्त्व असत् होता है। इस प्रकार सिद्ध हो जाने-पर भी यह प्रश्न होता है कि वह सत्-तत्त्व हमलोगोंकी भाँति हस्तपादादि अवयववाला है या निरवयव ? तब कहना पड़ता है कि अवयववाला पदार्थ सदा ससीम होता है; क्योंकि उनके अवयवोंको अवकाश देनेवाला दूसरा आधार कोई और अवश्य होता है; परंतु वह सत् तो निराधार तथा असीमरूपेण स्थित है, अतः सिद्ध हुआ कि सत्-तत्त्व नित्य, निरवयव, असीम, अनादि, एक तथा सर्वव्यापक है।

लोकमें यह विज्ञानसिद्ध है कि जो कोई वस्तु होती है उसमें शक्ति भी अवश्य होती है, हाँ, जो अल्प है उसमें अल्प शक्ति और जो महान् होता है उसमें महान् शक्ति होती है। इसी प्रकार उस सत्‌में भी कोई शक्ति अवश्य होनी चाहिये, ऐसा विचार उठनेपर कहा जाता है कि जब वह सत् है तब उसकी शक्ति भी सत् हुई और जब वह अनन्त है तब उसमें स्थित शक्ति भी अनन्त हुई, इसलिये वह तत्त्व अनन्त शक्तिमान् सिद्ध हुआ।

अनन्त शक्तिमें सर्वशक्तियोंका समावेश होता है, अतः वह सर्वशक्तिमान् भी सिद्ध हुआ। वह अपनी महिमामें स्वाश्रय होकर स्थित है। यही तत्त्व जगत्‌का आधार तथा स्वयं निराधार है।

इसीको सामवेदके छान्दोग्य उपनिषद्‌में 'भूमा', 'सत्'; यजुर्वेदमें 'ब्रह्म', 'ईश'; ऋग्वेदमें 'आत्मा', 'पर'; अथर्ववेदमें 'आनन्द', 'विज्ञान', प्रज्ञान' इत्यादि नामोंसे कहा गया है।

यह सत्-तत्त्व स्वाभाविक, सदैव अचल रूपसे स्थित रहता है। परंतु इसमें अभिन्न-तादात्म्यरूपसे स्थित सदसद्विलक्षणा शक्तिके द्वारा कभी इस नाम-रूपात्मक जगत्‌का विकास होता है और कुछ काल स्थित होकर फिर वह उसीमें लीन हो जाता है। यही इस प्राकृत जगत् (संसार) की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय है। अब जिस प्रकार यह विश्व-संज्ञाको प्राप्त होता है उस क्रम-पर विचार करें।

यद्यपि वह सर्वशक्तिमान् प्रभु स्वभावानुसार अनेकों प्रकारसे सृष्टि रचता है तथा उसका संहार करता है, परंतु सब प्रकारकी उत्पत्ति-क्रममें उसके संकल्पको ही मूल कहा गया है, अतः उस केवल सच्चिदानन्दघनमें संकल्पशक्तिसे ही मनोराज्यकी भाँति यह आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा पाञ्चभौतिक सभी स्थावर-जङ्गमात्मक प्रपञ्च स्फुरित हो गया है। इसीका नाम जगत्, संसार, विश्व आदि है।

इस विश्वका संकल्पित नियमानुसार शासन करनेके कारण उन्हीं प्रभुको विश्वपति ईश्वर कहते हैं। यह ईश्वर

ही अखिल जगत्‌का, सम्पूर्ण प्राणियोंका माता-पिता, धाता, स्रष्टा, नियन्ता कहा गया है। इन्हीं सर्वशक्तिमान् प्रभुकी सब सज्जनगण उपासना करते हैं। यही भक्तोंके सम्पूर्ण भावोंकी स्वेच्छानुसार पूर्ति करते रहते हैं और यही समस्त प्राणियोंको कर्मानुसार फल भी प्रदान करते हैं।

सदाचारका परिणाम सत्, ज्ञान तथा सुखरूप होता है और दुराचारका परिणाम असत्, अज्ञान तथा दुःखरूप होता है।

एक परमपिता परमात्मासे उत्पन्न होनेके कारण यह विश्व ही हमारा सबसे बड़ा घर है। इसके अंदर रहनेवाले सम्पूर्ण चराचर प्राणी अपने सगे-सम्बन्धी हैं। विश्वरूपी महागृहके भीतर जो महादेश, देश, द्वीप-समूहादि हैं, वे ही कमरोंकी भाँति हैं और इन महादेशोंके राष्ट्राधिप ही समर्थ भाइयोंके सदृश हैं। वे अपने-अपने प्रजारूपी कुटुम्बियोंको लेकर पालन करते हुए भिन्न-भिन्न देशरूपी कमरोंमें रहते एवं परस्पर व्यवहार-व्यापार करते हैं; परंतु इस समय ईश्वररूप पिताकी नियमित आज्ञाओंका उल्लङ्घन तथा पारस्परिक विरोधके कारण वे नाना प्रकारके रोग-शोकादि द्वन्द्वोंके रूपमें अत्यन्त कष्ट पा रहे हैं। विश्वरूप गृहमें कलह उत्पन्न हो जानेके कारण महाविनाश हो रहा है।

यह तो निश्चित ही है कि कुटुम्बमें अज्ञानपूर्वक स्वार्थपरताके कारण जब विरोध उत्पन्न हो जाता है, तब दुःख तथा सब प्रकारसे अपनी ही हानिके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? हानि हुई सो हुई, ईश्वर भी अप्रसन्न होकर दण्ड देता है।

इस तरह आज सभी प्राणी सब प्रकारसे दुखी हो रहे हैं। परंतु यदि हमलोगोंको शाश्वत पूर्ण सुखी होना अभीष्ट है तो हमें चाहिये कि हम परमेश्वरके अनन्त उपकारोंके प्रति उनके कृतज्ञ हों। सब लोग परस्पर प्रेम रखते हुए सबके हितकर आचरणोंमें तत्पर हों, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक विकास और सभी प्रकारकी उन्नतिके लिये निरन्तर गङ्गा-प्रवाहकी नाईं पुरुषार्थशील हों तथा अपने सहित सभीके अपराधोंके क्षमाके लिये करुणापूर्वक विनम्रभावसे प्रार्थना करें तथा प्रभुके सामने विश्वहितार्थ नित्य प्रार्थी हों।

प्रभु सर्वसमर्थ हैं, वे हमारी करुणापूर्ण विश्वहितार्थ पुकारको सुनकर अवश्य ही कृपा करेंगे और अपनी दया-दृष्टिमात्रसे ही हम सभीको सुखी बना देंगे। जब एक लौकिक पितासे उसके महान् अपराधी पुत्र प्रार्थना करते हैं कि 'पिताजी! अबतक हमलोगोंसे जो भी अपराध बन गये हैं उनको आप क्षमा कीजिये, भविष्यमें हमलोग आपकी आज्ञाके विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करेंगे', तब वह दयाहीन पिता भी अपने पुत्रोंकी करुणापूर्ण निष्कपट पुकारको सुनकर उनके सभी अपराधोंको क्षमा करके उन्हें हृदयसे लगा लेता है और उनको उचित हितकर आचरणोंमें लगाकर स्वयं भी हितकर आचरणोंमें तत्पर हो जाता है, तब अत्यन्त सुहृद् करुणामय परमपिता परमात्मा हम अपराधी दण्डनीय शिशुओंकी विश्वहितार्थ करुणापूर्ण प्रार्थनाको सुनकर क्या हम सबको सुखी बनानेका यत्न न करेंगे? अवश्य ही करेंगे, हाँ, हमारी पुकार कपटरहित हृदयविदारक तथा सद्भावसम्पन्न होनी चाहिये।

अवैरसे वैर शान्त होता है

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कदाचनं। अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥ (धम्मपद)

यहाँ संसारमें वैरसे वैर कभी शान्त नहीं होता, अवैरसे ही शान्त होता है, यही सनातनधर्म नियम है।

रूप-विज्ञान

(लेखक—श्रीक्षेत्रलाल साहा एम्० ए०)

जगत्का जो चरम सत्य है, परम प्रतिष्ठा है, जिससे विश्वका उद्भव होता है, जिसमें स्थिति और पर्यवसान होता है—

'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च'—'यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः'—

जो सबका 'प्रलयस्थानं च' है, वह रूपरहित है या रूपवान् है?—यह एक महान् प्रश्न है, विशाल समस्या है। संसारकी बहुत-सी जातियाँ, बहुत-से धर्मसिद्धान्तोंने तो इस विषयमें कुछ भी विचार-विवेचन करना आवश्यक ही नहीं समझा। न तो इस विषयमें कुछ सोचा, न ध्यान ही दिया। उन्होंने बिना विचारे, बिना विवादके यह धारणा कर ली कि जगत्का आदि-अन्त तत्त्व निराकार है। चन्द्र-सूर्य, ग्रह-तारा, गिरि-नदी, तरु-लता, पशु-पक्षी, नर-नारी, घर-द्वार—ये सभी देखनेमें आते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होते हैं, अनुभव किये जाते हैं। ये सभी दृश्य, ग्राह्य और अनुभाव्य हैं। इनके आकार-प्रकार-विकार आदिका निरूपण किया जाता है। ये सभी साकार हैं, सावयव हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि जो इन सबका कारण है, वह कैसा है? इसका सहज उत्तर यह है कि 'उसका कोई प्रकार नहीं है। आकार भी नहीं है।' पर सर्व कारणोंका कारण कुछ नहीं है—यह कहनेसे काम नहीं चलेगा। मानना पड़ेगा कि कुछ 'है'। है, परंतु उसका कोई आकार नहीं है और न हो सकता है। उसका रूप नहीं, अभिव्यक्ति नहीं है, तो बताओ वह क्या है?—सत्तामात्र, शक्तिमात्र, ज्ञानमात्र है। इसी धारणाको लेकर, इसी विश्वासको दृढ़ करके अतीत और वर्तमानकालमें लाखों-लाखों नर-नारी निर्विकार चित्तसे धार्मिक निश्चिन्तताका उपयोग कर गये हैं और कर रहे हैं। एक भारतके अतिरिक्त सारे भूमण्डलकी यह स्थिति है। भारतवर्षको छोड़कर पृथ्वीके धर्मज्ञानका आश्रय है—आकाशवत् निराकार, 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्रह्मसूत्र १-१-२३) नहीं। 'आकाशस्तत्सदृशः।' इस निराकार प्रतिष्ठाको तथा उसमें अनायास और अनुद्वेग अवस्थानको ईसा तथा उनके अनुयायियोंने प्रबल आघातके द्वारा [illegible]। ईसा नश्वर देहमें भी रूपवान् हैं, अविनश्वर अमृतभावमें भी [illegible]वान् हैं। तथापि ईसा परमेश्वर हैं, विश्वस्रष्टा हैं, विश्वेश्वर हैं—ऐसा माना गया। हजारों लोगोंने ईसाके ईश्वरत्वको अस्वीकार करके रूपप्रकाशवादके अत्याचारसे छुटकारा भी प्राप्त किया। पर जो अस्वीकर न कर सके, वे ईसाके अलौकिक व्यापारको देखकर अप्राकृतिक शक्ति-सामर्थ्यको देखकर अभिभूत हो उठे। उन्होंने विवश होकर रूपवान् परमेश्वरको स्वीकार किया। किंतु वे भी अरूप संस्कारकी निराकार धारणाके आवेगको अतिक्रम न कर सके। निःसंकोच न हो सके। अतः उन्होंने 'पिता और पवित्र परमात्मा'—God the Father and the Holy Ghost—ईश्वरके इन दो अधिक व्यूहोंका आश्रय लिया। ईश्वर त्रिव्यूह हो गया, Trinity हो गयी। इतना ही नहीं, ईसाके भक्तोंने सरूप ईसाको ईश्वरका तृतीय स्वरूप अर्थात् अंशावतारके रूपमें स्वीकार किया—परंतु केवल यहींतक। रूपाविर्भावके किसी तत्त्व, किसी नीति, किसी Principle को उन्होंने न तो ग्रहण किया और न समझा ही। केवल ईसा है। भूलचूकसे जो हो गया, सो हो गया—उसको बदलने या छोड़नेका कोई उपाय नहीं। परंतु और नहीं, ईश्वरका मानो अन्य किसी रूपमें जगत्में आनेका वे प्रयोजन ही नहीं समझते। उन्होंने एक बार जो मान लिया वही यथेष्ट है। उन्होंने सदाके लिये यह नियम बना लिया कि ईश्वरका दूसरा रूप नहीं है और न हो सकता है। यदि होता है तो वह मिथ्या होगा। केवल ईसा है, वही प्रथम है, वही अन्तिम है। ईसाई धर्मचक्रका मनोभाव बहुत-कुछ इसी प्रकारका है। उनकी दृष्टिमें जगत्की सृष्टि भी तो ईश्वरकी कल्पनामें काल-नक्षत्रमें एक ही बार है। वह प्रलयको प्राप्त हुई कि, सब समाप्त। जब सृष्टिके सम्बन्धमें ही ऐसी बात है, तब फिर ईश्वरके रूप-प्रकाशकी बात ही क्या? इधर भारतके ऋषियोंने ईश्वरवाक्यकी घोषणा की—

'यदा यदा हि धर्मस्य…सम्भवामि युगे युगे।'

और फिर कहा—

'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।'

(श्रीमद्भा० १ । ३ । २६)

और उस अवतारतत्त्वके विज्ञानका विधान किया—

सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ
शरीरिणां श्रेयउपायनं वपुः ।
(श्रीमद्भा० १० । २ । ३४)

तथा,

नातः परं परम यद् भवतः स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
(श्रीमद्भा० ३ । ९ । ३)

—परंतु हमें यहाँ इस विषयकी आलोचना नहीं करनी है। यहाँ तो परब्रह्मके रूपके सम्बन्धमें प्रधान-प्रधान उपनिषदोंके अर्थात् मूल वेदान्तके जो तत्त्वोपदेश (Revelations) हैं, उनको ही यथासम्भव समाहरण करनेकी चेष्टा की जायगी।

उपनिषदोंका सच्चा अर्थ और सार अर्थ बहुधा ग्रहण नहीं किया जाता; क्योंकि हम चित्तमें पूर्वसंस्कार तथा विशेष-विशेष मतवादोंके प्रति पक्षपात तथा अति आग्रह लेकर ही उपनिषद् पढ़ते हैं। वस्तुतः सरल, सहज, सुविशुद्ध चित्तके द्वारा प्रत्येक श्रुतिका अर्थ ग्रहण करना आवश्यक है। ज्ञान और भक्ति मानव-मनके दो विपरीत प्रान्त नहीं हैं, जो विभाव हैं, जो प्रायः मिल-जुलकर मनकी मति-गतिका निर्देश करते हैं, विशेष-विशेष व्यक्तिके अन्तःकरणमें उनमेंसे कोई एक अपेक्षाकृत प्रबल होता है। परंतु बहुत दिनोंसे वेदान्ती और वैष्णव महानुभाव ज्ञान और भक्तिको दो विभिन्न रूपोंमें, दो विभिन्न ध्रुवप्रदेशोंमें स्थापन करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। जीवनको एकबारगी ज्ञान-विज्ञानविहीन करना सम्भव नहीं है, अतएव वैष्णवलोग तो तत्त्व ग्रहण करनेमें कोई आत्यन्तिक अन्याय नहीं कर सकते। परंतु 'भक्तिहीनता' प्रीतिहीनता, शुष्कज्ञान-सर्वस्वता सम्भव है,—इस मान्यतासे कोई-कोई वेदान्ती महानुभाव अपनी दृष्टिसीमासे भक्तिके अमृत-किरणको आवृत करके, उसे हटाकर प्राणहीन ज्ञानकी प्रतिष्ठा करनेका प्रयत्न करते हैं! ये ज्ञानवादी लोग श्रुतिके अर्थ तथा ब्रह्मसूत्रके तात्पर्यको विशुद्ध अर्थात् विशुष्क ज्ञानकी ओर बलात् खींच ले जाते हैं। इसी प्रकार—वैष्णव लोग भी उनके अर्थको भक्तिकी ओर खींचनेसे बाज नहीं आते। निर्विशेष ब्रह्मानुसंधानात्मक ज्ञानके लिये उपर्युक्त वेदान्ती लोगोंका आग्रह बड़ा प्रबल होता है। उनके विचारसे मानो वे ब्रह्म ही हो गये हैं। ये ब्रह्मवादी लोग बहुधा मूल उपनिषद्के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं रखते। इन्होंने श्रीशङ्कराचार्यके उपनिषद्-भाष्य या सूत्रभाष्यको भलीभाँति हृदयङ्गम कर लिया हो, यह भी निश्चय नहीं है और इनके साधनाध्ययनकी गति वेदान्तसार तक या बहुत आगे बढ़ते हैं तो पञ्चदशी तक होती है। हम इस विषयमें इस मार्गका अवलम्बन न करके महाप्रभुके अनुशासनका स्मरण करेंगे—

व्यासेर सूत्रेर अर्थ सूर्येर किरण,
स्वकल्पित भाष्यमेघे करे आच्छादन।
(चैतन्यचरितामृत मध्य ६)

ब्रह्मसूत्रके सम्बन्धमें तो कुछ कहनेकी हममें शक्ति नहीं है, परंतु अनेकों उपनिषद्वाक्योंके सम्बन्धमें यह बात अति सत्य है, यह अनायास ही स्वीकार किया जाता है। ब्रह्मसूत्रोंमें किसी-किसी सूत्रको महर्षि बादरायणने अति प्राञ्जलभावसे लिपिबद्ध किया है; परंतु भाष्य करनेवालोंने अपने मतका पोषण करनेके लिये वक्रविचारके बादलोंसे उसे आच्छन्न कर दिया है, यह सहज ही अनुभव किया जा सकता है।

'न स्थानभेदतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि।'
(३-२-११)

इत्यादि उदाहरण-स्थल हैं।

ज्ञानका रंग सफेद और शुभ्र है, 'तुषारक्षेत्रपतितसूर्य-किरणवत्।' भक्तिका रंग लाल है, आरक्त है। 'रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्'—भक्तिका नाम है—राग। राग भक्तिका सर्वोत्तम चित्र अङ्कित किया है श्रीरूपगोस्वामीने उज्ज्वल नीलमणिमें—

चित्राय स्वयमन्वरञ्जयदिह ब्रह्माण्डहर्म्योदरे
भूयोभिर्नवरागहिङ्गुलभरैः शृङ्गारकारुः कृती।

नवराग हिङ्गुलवर्ण है। उपनिषद्में जो आभ्यन्तरिक भावप्रवाह बह रहा है उसका भी एक रंग है, एक आभा है। वह तुषाररश्मिकी छटा नहीं और न वह नवकुङ्कुमके समान अरुण ही है। वह है—

'सु ईषद् अरुणः उषालोकरञ्जित'

सरल भाषामें तनिक लालकी आभा उसमें विद्यमान है। लालकी आभा रूपकी आभा है। अरूपकी आभा नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद्में इस गोपन रूपकी आभा सुस्पष्ट प्रकाशित हुई है; यह देखा जाता है। वहाँ अति मनोहर अभिव्यञ्जना है—

"तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्। यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा

सकृद् विद्युत्तं सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति । प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम् ।" (२।३।६)

अर्थात् "उस पुरुषका रूप कैसा है?—जैसा कुङ्कुम। कोई-कोई वस्त्र, जैसे मेषके लोमका वर्ण ईषत्पीताभ होता है,—वैसा है और वह रूप इन्द्रगोप नामक रक्तकीटकी रक्त आभाके समान जान पड़ता है। वह रूप अग्निशिखाके समान और विकसित कमलके वर्णका दीख पड़ता है। चञ्चल चपलाकी क्षणिक चमकके समान देखते-देखते विलीन हो जाता है। उसको जिसने एक बार देखा है वह दीप्त विद्युत्की शोभा-सम्पत्को प्राप्त हो गया है। परमपुरुषका कोई निर्धारित रूप नहीं है। वह नित्य नाना रूपोंका प्रकाशक्षेत्र है। इसीसे 'नेति' 'नेति' कहकर उसके चञ्चल रूपका विवरण किया जाता है। उसका नाम है—सत्यका सत्य।* प्राण सत्य है, वह प्राणका भी प्राण है, अतएव और सत्य है। जिस रूपसे उसका लक्ष्य किया जाय, वह केवल वही है—यह माननेसे काम नहीं चलेगा। वह जो सर्वातिशायी है" मूलकी भावभङ्गी जैसी है, ठीक वैसा ही अनुवाद किया है। कवित्व-संयोग नहीं, कया है।

जो परम सत्य और परतत्त्व है, वह केवल सत्तामात्र अथवा शक्तिमात्र नहीं है। 'वह ज्योतिर्मय है, प्रदीप्त-वर्णमय है।'

'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते ।
विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु……'

इत्यादि छान्दोग्य श्रुतिमें परब्रह्मकी ज्योतिकी बात हमारे लिये बतायी गयी है। कठोपनिषद्में कहा गया है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।
(२।२।१५)

परंतु इससे यह नहीं समझमें आता कि परतत्त्व मूर्त्तिमान् है या अमूर्त्त है। बृहदारण्यक श्रुतिवाक्यमें हम देखते हैं—

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे । मूर्तं चैवामूर्तम् ॥'
(२।३।१)

परंतु यह बाह्य रूपकी बात है, प्राकृत रूपकी बात केवल होनेपर भी ठीक भगवत्-रूपकी बात नहीं है। 'एतदमृतम्' कहा गया है; परंतु वह अमूर्त्त है।

'एतस्यामूर्तस्य एतस्यामृतस्य यत एतस्य तस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य ह्येष रसः ।'
(२।३।३)

इस जगन्मण्डलका जो अन्तर्यामी पुरुष है उसीका यह 'रस' है जिसका अमूर्त्त रूपमें वर्णन किया गया है। 'रस' माने क्या आभास है? प्रकाशविशेष है? पुरुषका अर्थ तैत्तिरीय उपनिषद्में व्यक्त हुआ है—

प्रथम, पुरुष अन्नरसमय है। दृश्यमान नराकार है। 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं'—भागवत ११।२०।१७) यह नरदेह ही सब जीव देहोंका आदर्श है। देहगठनका 'मॉडल' है। जीवमूर्त्तिके प्रकाशकी पराकाष्ठा यह नरदेह है। इस नरदेहधारी जीवको ही श्रुति 'पुरुष' कहती है—अन्नरसमय पुरुष। इस पुरुषका अन्तरात्मा प्राणमय पुरुष है। प्राणमय पुरुषका अन्तरात्मा मनोमय पुरुष है। मनोमय पुरुषका अन्तरात्मा विज्ञानमय पुरुष है। विज्ञानमय पुरुषका अन्तरात्मा आनन्दमय पुरुष है। यह सच्चिदानन्दमय आत्मा है। ये सभी पुरुष-प्रकार हैं। श्रुति पुनः-पुनः कहती है—'स वा एष पुरुषविध एव।' अर्थात् सभी नराकृति हैं। स्तर-स्तरमें, आगे-आगे, विभिन्न भावभूमियोंमें सभी आत्मशक्तियाँ मानवाकृति हैं। आनन्दमय पुरुषके सम्बन्धमें कहा गया है कि उसकी 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' है। इससे हमको जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धका पता लगता है। एक तो हुए नराकार और जो प्रधान हैं वे कौन हैं? श्वेताश्वतर श्रुति कहती है कि—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।'
(४।६)

दो सखा हैं। अतएव आकृतिमें भेद नहीं हो सकता। समान-समानमें सख्य होता है। सयुजाका अर्थ है कि वे दोनों समान-समान हैं। परंतु यह श्वेताश्वतर श्रुति ही फिर विपरीत बात कहती है—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।'
३।१९

* सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ।
(श्रीमद्भा० १०।२।२६)

उसके हाथ नहीं है, परंतु हाथसे धारण करनेकी भाँति ठीक ग्रहण करता है; उसके चरण नहीं, परंतु चञ्चल चरणसे चलनेके समान ठीक चलता है। मनुष्यके समान कान नहीं है, परंतु मनुष्यकी अपेक्षा बहुत अधिक सुनता है। पक्षीको पंख होते हैं, इसीसे पक्षी उड़ता है—यह अज्ञ बालककी बात है। पक्षीमें उड़नेकी शक्ति है, इसीसे वह उड़ सकता है। वह शक्ति ही पंखके द्वारा प्रकट होती है, यह बाह्यजीवनका उपकरण है। ब्रह्मको धारण करनेकी शक्ति जब स्वीकृत हो गयी, गमनकी शक्ति जब स्वीकृत हो गयी, तब उसके पाणिपादको स्वीकार करना या न करना एक ही बात है। इच्छामात्रसे ही उसके हाथ-पैर प्रकट हो सकते हैं; क्योंकि शक्ति विद्यमान है। श्रुति इस बातको प्रकट करनेसे चूकती नहीं है। उसने घोषणा की है कि 'अपाणिपादः' चलनेके पूर्व ही है। इस श्वेताश्वतर श्रुतिने ही उपदेश दिया है—

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।

(३। १६)

परब्रह्मके कर-चरण-चक्षु-श्रोत्र सब हैं; परंतु वह अनन्त है, असीम है, सर्वव्यापी है, विश्वरूप है। इसीसे—

'सहस्राक्षः सहस्रपात्, सहस्रशीर्षा पुरुषः।'

वेद, उपनिषद्, गीता एकस्वरसे कहते हैं कि वह शाश्वत पुरुष है, परम पुरुष है, पुरुषरूपमें ही सर्वव्यापी है। भगवत्सन्दर्भमें श्रीजीवगोस्वामीने यह तत्त्व लिपिबद्ध किया है—

एकमपि मुख्यं भगवद्रूपं युगपदनन्तरूपात्मकं भवति।

'एक ही मुख्य भगवद्रूप एक ही साथ अनन्त रूपात्मक होता है।'

जैसे परमेश्वरका ऐश्वर्य अनन्त है, वैसे ही उसका माधुर्य भी अनन्त है। परब्रह्मके अनिर्वचनीय शक्तितेजमें चन्द्र-सूर्य-नक्षत्रादि तथा विद्युदग्नि—सभी गलकर बुझ जाते हैं। वे —

'समवरुद्धसमस्तभगः'

'अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधकः।'

(वेदस्तुति हैं।)

'महद्भयं वज्रमुद्यतम्। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'—

—इत्यादि उसके ऐश्वर्यके आभासमात्र हैं। इस ऐश्वर्य-भावनाके क्षुब्ध समुद्रमें रूपानुभूति निमज्जित हो जाती है। उपनिषद्में माधुर्यभावना है, परंतु ऐश्वर्योपलब्धिकी ही प्रधानता है। भक्तिकी मृदु तरङ्गें हैं, परंतु ज्ञानका आलोक ही प्रचुर है। अनुराग कम है, अनुसंधान सर्वत्र है। रूपकी आभा बीच-बीचमें आँखोंपर पड़ती है, परंतु अरूपकी व्यञ्जना बार-बार होती है।

'कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः।'

वक्षःस्थलकी कुन्दमाला दीख नहीं पड़ती, वायुमें गन्ध भासती है।

पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्।

(श्रीमद्भा० १०। ३०। ४)

वह आकाशवत् है। भूतोंके बाहर-भीतर परिव्याप्त है। सर्वत्र अनुविद्ध है। विरहिणी व्रजाङ्गनाओंके समान वैदिक ऋषियोंने उसका सर्वत्र अन्वेषण किया है। प्रत्येक तरु-लतासे पूछा है कि 'क्या तुम उसको जानते हो, पहचानते हो ?' छान्दोग्य उपनिषद्में सर्वत्र ही विश्वमय ब्रह्मका अन्वेषण है।

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु········ ॥

(श्वेताश्वतर० २। १७)

उसीका ऋषियोंने अनुसंधान किया है। उसने जो सृष्टि की है उसीमें वह अनुप्रविष्ट हो गया है—'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्।' यह श्रुतिवाक्य है। भागवतने भी यही कहा है—

अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव ह्येतत् त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।

उपर्युक्त—'य ओषधीषु यो वनस्पतिषु' इत्यादि श्रुति माधुर्यगामिनी है। माधुर्य रूपकी उपक्रमणिका साधन करके रूपलालसाका उद्रेक करती है। 'रूप लागि आँखि झुरे गुने मन ओर'—यह कवि ज्ञानदासने गाया है।

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे
यतो जातानि भुवनानि विश्वा॥

(श्वेताश्वतर० ४। ४)

—इत्यादि श्रुतिगीत मनःप्राणको मधुरायमाण कर देता है। जो पुष्प-पुष्पपर भ्रमण करके मधुपान करता है, सुरञ्जित पंखोंको खोलकर उड़ जाता है, जो हरिद्वर्ण पक्षीके समान आकाशमें कल-झंकार जगाकर दिगन्तरालमें अदृश्य

उद्गीथ 'रसानां रसतमः' है। सारात् सार तत्त्व है। ऋक् और साम, वाक् और प्राण क्रमशः अभिन्न हैं। वाक् ही ऋक् है, प्राण ही साम है। दोनों मिलकर यह ॐ अक्षर है। यह मिथुन है। ॐ अक्षरमें वाक् और प्राण मिथुन—संसर्गको प्राप्त है। दोनों अनादि-अनन्त हैं। परब्रह्मका विश्व मिथुनभाव है। स्त्री-पुं-शक्तिद्वय ॐकारमें मिलित हैं। यह अमृत-सम्मिलन है, अमृत दम्पति है।

'यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम्।'

(१।१।६)

जो निखिल विश्वका अनादि-अनन्त तत्त्व है, सर्वकारणोंका कारण-तत्त्व है वह रूपतत्त्व है, रसतत्त्व है, मिथुनतत्त्व है, युगलमाधुरी तत्त्व है। जबतक अदर्शन है, जबतक शून्य-ज्ञान-विभावना है, तभीतक अरूप है, निराकार है, निर्विशेष है। अरूप तत्त्व नहीं है। अरूप है उपलब्धिका अभाव। ज्ञानमार्गमें उपलब्धि नहीं, प्राप्ति नहीं, दर्शन नहीं, द्रव्यस्फुरण विधान नहीं। है केवल भावनिष्कासन, शून्यीकरण, ब्रह्म-विभावमें निर्वापन।

उपनिषद्की जो अरूप-ब्रह्म-भावनाकी धारा है उसमें एक दुर्निवार्य प्रेरणा है दिव्यरूप मूर्तिमें सार्थकता प्राप्त करनेके लिये।

'स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः।'

(तैत्तिरीय० १।६।१)

—इत्यादि उपदेश करके श्रुतिको तृप्ति न हुई। कुछ आगे चलकर कहती है—

आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्मप्राणारामम्। मन आनन्दम्, शान्तिसमृद्धममृतम्।

(तैत्तिरीय० १।६।२)

जो प्राणाराम, मन आनन्द तत्त्व है, वह अशरीरी कबतक रहेगा?—

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।

(तैत्तिरीय० २।६)

उसने कामना की। किसने कामना की? सः अर्थात् पुरुषने। जो पुरुष है वही निराकार नहीं है। और जो निराकार है उसके कामना नहीं हो सकती। रूपाकाङ्क्षिणी श्रुतिकी चिन्ता-धारा वहाँ भी पूर्ण नहीं हुई। कुछ आगे चलकर कहा—'असद्वा इदमग्र आसीत्।' अर्थात् नपुंसक तत्त्वरूपमें, 'तत्' इस रूपमें वह परतत्त्व असत् प्राण था। 'तदात्मानं स्वयमकुरुत।' उसी तत्त्वने अपनेको (नये रूपमें) सृजन किया। तब वह सत् हुआ। 'ततो वै सदजायत।' आकार-प्रकारहीन सत्ता परम तत्त्व नहीं है। वह दार्शनिकके ध्यानमें असमर्थताकी सूचक है। श्रुति कहती है—'रसो वै सः'—परम तत्त्व रसस्वरूप है। रस निराकार नहीं हो सकता, जैसे सूर्य अन्धकार नहीं हो सकता। रसका अर्थ है रूप, आनन्द, रति, लीला। रसका अर्थ है—नायक-नायिका। रमणी-पुरुष। आदान-प्रदान। वृत्ति-विलास। विभाव-अनुभाव। संचारी-भाव। अरसिक तत्त्व ब्रह्म सृष्टि नहीं करता; क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है। 'न प्रयोजनाभावात्' (ब्रह्मसूत्र २।१।३१)—इस आपत्तिका उत्तर अगले सूत्रमें है—'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' विश्वब्रह्माण्डकी सृष्टि हुई है रसस्वरूप परब्रह्मकी लीला-वासनाके कारण।

इत्यादि सारे विचार रूपकी धारा पकड़कर चलते हैं। परब्रह्मके निराकार होनेपर सृष्टि निरर्थक हो जाती है। यह विषय और भी सुस्पष्ट रूपसे कहा गया है बृहदारण्यक उपनिषद्में। (१।४।१)। पहले ही कहा गया है—'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविध०।' निखिल विश्व आदिमें एकमात्र आत्मा था अर्थात् आत्मतत्त्वस्वरूप था। वह आद्य-तत्त्व निराकार नहीं था, पुरुषाकार था। यह भूल जानेपर सब कुछ भ्रमके स्रोतमें बह जायगा। शाश्वत पुरुष, आदिदेव, दिव्य, अज, विभु था। बात और भी स्पष्ट की जाती है।'

स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्।*

(बृहदारण्यक० १।४।३)

छान्दोग्य उपनिषद्के प्रारम्भमें हम ॐकारतत्त्वके प्रसङ्गमें ॐकारके अन्तरतम मिथुनीभूत रसतत्त्वका विषय पाते हैं। बृहदारण्यकमें भी हमको वही उपदेश मिलता है। यह उपदेश और चैतन्यचरितामृतका—

---

* इसका अर्थ यह है कि परब्रह्म जब एक था तब उसको कोई आनन्द न था। कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। यदि दूसरा कोई होता तो सब सुन्दर होता। सोचा, मैं दूसरेका सङ्ग चाहता हूँ। यह बात सोचकर वह भावान्तरको प्राप्त हो गया। स्त्री-पुरुष-युगल भावसे सम्पन्न हो गया। अपनेको दो भागोंमें विभक्त कर लिया। दम्पति बन गया।

'एकात्मनावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ ।'

उपदेश एक ही है । परमाराध्य परब्रह्मके हृदयमें लीला-कामना-रश्मिने रमणीय रसरूप धारण किया । आद्या आराधनामयी विश्वरमणीकी प्राणभूता, ब्रह्ममनोरमा रमणीका आविर्भाव हुआ । वे दो विभिन्न विभावको प्राप्त हुईं । अन्तरङ्गा चिच्छक्तिस्वरूपिणी गोलोककी लीला-नायिका—एक विभाव तथा बहिरङ्ग ब्रह्ममयी और ब्रह्माण्डमयी मायाशक्ति-स्वरूपिणी निखिल विश्वेश्वरी—यह द्वितीय विभाव । एक राधा, दूसरी दुर्गा । एक, 'अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।' दूसरी—

'सृष्टिस्थितिसंहारसाधनशक्तिरेका
छायेव चास्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा ॥'
(ब्रह्मसंहिता)

रूपविज्ञानकी यही अन्तर्निहित कथा है। भागवत अति मनोज्ञ भाषामें तत्त्व-रहस्य प्रकट करता है—(१० । ३ । २४)

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।

अर्थात् 'जिस तत्त्वको अव्यक्त, आद्य, ब्रह्म, ज्योति, निर्गुण, निर्विकार आदि नामोंसे पुकारते हैं, वह किंतु रूप है, अरूप नहीं ।' इस श्रीमद्भागवतकी अपूर्व उक्तिके द्वारा ही हम पुराणके रूपराज्यमें प्रवेश करेंगे ।

जीवनमें पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाका महत्त्व

(लेखक-पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम०ए०)

हृदयमें पूर्णत्व आकाङ्क्षाका उदय तभी होता है जब मनुष्यको अपनी अपूर्णताका ज्ञान हो जाता है और उसमें ज्ञानोद्दीपनकी इच्छा प्रकट होती है । जबतक वह अपनेको अपूर्ण नहीं जानता, तबतक पूर्ण होनेकी इच्छाका उदय ही क्योंकर हो सकता है । इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता (१३ । ११) में ज्ञानके साधनोंके बीच 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्'को ज्ञान ही माना है अर्थात् जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग दुःखदायी होते हैं और उनमें दोष भरा हुआ है; इस बातका बारंबार विचार करना भी ज्ञानरूप ही है । जबतक इनमें दुःखका ज्ञान नहीं होता, तबतक यथार्थ सुख पानेकी इच्छाका उदय नहीं हो सकता ।

भोगोंकी इच्छा तथा पूर्णत्वकी आकाङ्क्षामें महान् अन्तर है । इच्छा सांसारिक वस्तुओं, स्वार्थनिष्ठ अधिकार, अपना प्रभुत्व, तुच्छ सुख तथा इन्द्रियजन्य भोगविलासकी चाह है, परंतु पूर्णत्वकी आकाङ्क्षा इससे नितान्त भिन्न वस्तु है । आकाङ्क्षा दैवी वस्तुओं—जैसे सदाचार, दया, शुद्ध तथा प्रेमकी चाह है । आकाङ्क्षा मनुष्यके लिये अपनी त्रुटियोंको दूर कर पवित्र जीवन बितानेके लिये एक बहुत ही आवश्यक साधन है । बहुतोंकी तो यह अनुभूति है कि मनुष्य पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाके पंखोंके द्वारा पृथ्वीसे देवलोकको, अज्ञानतासे ज्ञानको और अन्तमें अन्धकारसे उच्च ज्ञानलोकको प्राप्त कर लेता है । पूर्णत्वकी आकाङ्क्षासे हीन प्राणी तुच्छ, सांसारिक, विषयी तथा अनुत्साही बना रहता है । यदि मनुष्य अपनी वास्तव उन्नति चाहता है, तो उसके हृदयमें पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाकी दीपशिखा जलनी ही चाहिये । पंखोंसे रहित पक्षी उड़ नहीं सकता; उसी भाँति पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाके बिना मनुष्य न तो अपनेको उच्च बना सकता है, न विषय-वासनाओंपर विजय प्राप्त कर सकता है । वह सामान्य प्राणीके समान अपनी इन्द्रियोंका दास बना रहता है, विषयोंके अधीन बना रहता है और निर्बल होनेके कारण वह घटनाओंकी परिवर्तन-धारामें इधर-उधर लुढ़कता रहता है ।

पूर्णत्वकी आकाङ्क्षासे सम्पन्न मानवकी स्पष्ट पहिचान है—अपनी तुच्छ दशासे असंतोष तथा उच्च बननेकी चाह । जिस प्रकार प्रबुद्ध मानव आगे बढ़ना चाहता है; निद्रासे जागकर अपनेको ज्ञानके मार्गपर बढ़ते हुए पाता है, उसी प्रकार इस आकाङ्क्षावाला मनुष्य भी अपनी वर्तमान हीन-दीन दशाकी बुराईसे परिचित हो जाता है

और चाहता है कि वह श्रेष्ठतम स्थितिको प्राप्त करे। इस प्रकारकी आकांक्षा करनेसे मनुष्यको विलक्षण फल प्राप्त होते हैं—ऐसे फल जिसकी वह कल्पना भी नहीं कर सकता। कठिन-से-कठिन वस्तु उसके लिये सुलभ बन जाती है; वास्तव उन्नतिका मार्ग खुल जाता है; उसके हृदयमें दिव्य ज्ञान तथा प्रसादके सब द्वार खुल जाते हैं। कविता, संगीत, गीति आदि पवित्र तथा सुन्दर वस्तुओंके पानेका मार्ग भी तभी खुल जाता है, जब वह अपने हृदयको आकाङ्क्षाकी उदयभूमि बनानेके लिये तैयार हो जाता है। पर यह आकाङ्क्षा स्थिरभावसे होनी चाहिये। आज दिव्य वस्तुके लिये इच्छा तो हुई किसी उपदेशककी शिक्षासे, परंतु कल ही वह गायब हो जाती है, क्योंकि हमारा हृदय दुर्बल होता है, हमारी भावना कमजोर होती है; हममें अन्तःसत्त्व, भीतरी बलका अभाव होता है।

मैंने ऊपर कहा है कि सांसारिक विषयोंमें दोषका दर्शन ज्ञानका अन्यतम साधन है। इसका अर्थ यह है कि जबतक संसारके विषयोंका स्वाद मनुष्यको मीठा लगता है तबतक वह उनसे ही संतुष्ट रहता है—आगे बढ़ना ही नहीं चाहता। परंतु जब वह उस मीठी वस्तुको तीता मानने लगता है, तब उसके हृदयमें ऊँचे-ऊँचे विचार उत्पन्न होते हैं। मानवकी वर्तमान दशाका वर्णन भागवतके इस श्लोकमें बड़ी सुन्दरतासे किया गया है—

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
कामानलं मधुलवैः शमयन् दुरापैः॥
(७।९।२५)

कानोंको सुख देनेवाले सांसारिक विषय मृगतृष्णाके समान हैं। कहाँ वे और कहाँ यह शरीर जो सम्पूर्ण रोगोंके उद्गमका स्थान है। परंतु तिसपर भी इन बातोंको भलीभाँति जाननेपर भी, प्राणीको संसारसे वैराग्य नहीं होता। वह छोटे-छोटे मीठे मधुके टुकड़ोंसे अपने काम-की आगको शान्त करता रहता है और समझता है कि इसी प्रकार सब कामनाएँ स्वतः शान्त हो जायँगी। ऐसी दयनीय स्थिति है इस मानवकी। ऐसी दशामें दिव्य ज्ञानकी आकाङ्क्षाका जन्म कहाँ हो? उसका जन्म तो तब होता है जब वह सांसारिक सुखोंसे वञ्चित हो, अपवित्रताके कारण दुःख पाने लगे अथवा शोकसे नितान्त विह्वल-चित्त हो। मतलब यह है कि जिसे वह अबतक अपनी प्रिय वस्तु समझता आया है उससे उसे धक्का लगना चाहिये। प्रेमका प्रवाह नीचेकी ओर न जाकर ऊपरकी ओर होना चाहिये। तभी ऐसी उच्च आकाङ्क्षाका उदय होता है।

ऐसी दशामें मनुष्यमें उन्नत होनेकी इच्छा प्रथम आवश्यक साधक है। मनोविज्ञानका यह पक्का नियम है कि जिस वस्तुकी जितनी स्पृहा होती है वह वस्तु उतनी ही मिलती है। मनुष्य यदि तुच्छ विषयोंकी इच्छा तीव्र-रूपसे करता है तो उसे वे मिल जाते हैं। अतः उच्च तथा श्रेष्ठतम भावोंकी ओर हमें अपने मनको पहले झुकाना चाहिये। सदा पवित्र विचारोंको मनमें स्थान दो। गंदे विचारोंसे बढ़कर अपवित्रता क्या हो सकती है? विचार ही मनुष्यको पवित्र तथा अपवित्र बनाता है। यदि विचार पवित्र हैं, तो मनुष्य पवित्र है। यदि विचार ही अपवित्र हैं, तो मनुष्य भी अपवित्र है। इससे आगे बढ़नेकी पहली सीढ़ी है—पवित्र विचारोंको जगाना। इस मार्गका पथिक जीवनमें कभी असफल नहीं होता।

मनुष्य ही अपनी त्रुटियों, अभावों तथा अपवित्रताओंके लिये उत्तरदायी है। यदि वह समझता है कि ये वस्तुएँ कहीं बाहरसे उसमें आ गयी हैं, तब तो वह उन्हें भगानेकी, हटानेकी कभी कोशिश ही नहीं करता।

इसलिये अपनी जिम्मेदारी पहले समझनी चाहिये। अपना अपराध ही नहीं समझेगा, तो उन्हें दूर ही क्यों कर हटायेगा ? मनुष्यको चाहिये कि वह पहले अपने अपराधोंको समझे और अपनी बुराईको देखे। कबीरने ऐसे जीवकी भावनाओंको इस दोहेमें पूर्णतया प्रकट किया है—

> बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
> जो तन देखा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

परंतु एक बात ध्यान देनेकी यह है कि बिना परिश्रम तथा प्रयत्न किये अध्यात्मकी भी सिद्धि नहीं होती।

'या लोकद्वयसाधनी चतुरता सा चातुरी चातुरी।'

यही चतुरता वास्तवमें चतुरता है जो दोनों लोकोंको सिद्ध करनेवाली होती है। जिससे लोक भी सुधरे और परलोक भी सुधरे, वही तो चतुरता है। परिश्रम दोनोंके लिये जरूरी होता है। जिस प्रकार व्यापारी लगातार परिश्रम करनेसे सांसारिक सफलताको पाता है, साधककी भी वही दशा होती है। परमार्थका मार्ग गुलाबका फूल नहीं है। वह भी बड़ा ही कण्टकाकीर्ण मार्ग है। उसपर सँभल-सँभलकर कदम रखना पड़ता है। प्रयत्न पद-पदपर करना पड़ता है।

जब पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाका हर्षवेग मनको स्पर्श करता है, तब उसे तुरंत ही सुधार डालता है और अपवित्रताको दूर हटाने लगता है; परंतु इस स्थितिको बनाये रखनेके लिये सतत तथा सुदृढ़ प्रयत्न चाहिये। मनमें एक अच्छी भावनाका जन्म हुआ, परंतु वह देरतक नहीं टिकती। वह संकुचित और क्षणिक होती है। भावनाके हटते ही चित्त फिर उसी खंदकमें जा गिरता है। अपवित्रताएँ पुराने अभ्याससे उसे चारों ओरसे घेर लेती हैं। इसीलिये अध्यात्मपथके पथिकको अपने प्रयत्नको निरन्तर नूतन बनाये रखनेकी आवश्यकता होती है।

शुद्ध जीवनका प्रेमी सदा अपने मनको पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाके उत्साहदायी प्रकाशसे नया बनाता रहता है। वह प्रातःकाल उठता है और प्रबल विचारों तथा सतत प्रयत्नसे अपने मनको दृढ़ करता है। वह जानता है कि मनका स्वभाव ऐसा है कि वह एक क्षण भी विचारमें लगे हुए नहीं रह सकता और यदि वह उच्च विचार तथा शुद्ध आकाङ्क्षाओंसे वशमें रक्खे जाते हुए सत्य-मार्गमें नहीं चलाया जायगा तो अवश्यमेव तुच्छ विचार तथा भोग-इच्छाओंका दास बनकर बुरी राहमें फँस जायगा।

भोगेच्छाके समान उच्च आकाङ्क्षा भी दैनिक अभ्याससे पाली जाती है और पुष्ट की जाती है। दैविक पथ-प्रदर्शकके समान इसे खोजकर मनमें प्रवेश कराया जा सकता है या उपेक्षा करके मनमें घुसने नहीं दिया जा सकता। प्रतिदिन शान्त स्थानोंमें (मुख्य या खुले मैदानमें) कुछ समयके लिये जाकर पवित्र हर्षवेगकी लहरोंको उठानेके लिये मानसिक शक्तियोंका आह्वान करनेसे हमलोग अपने मनको महान् आत्मिक विजय तथा दैविक महिमाके लिये प्रस्तुत करते हैं। कारण कि ऐसे ही हर्षवेगसे ज्ञान उत्पन्न होता है। शान्तिका प्रारम्भ इसीसे होता है। मन शुद्ध वस्तुओंका ध्यान कर सके, इसके पहले इसे उनकी श्रेणीमें पहुँचाना चाहिये। उच्च आकाङ्क्षा वह साधन है जिसके द्वारा इसकी शुद्धि हो सकती है। इसकी सहायतासे मन बहुत ही ऊँचा उठता है और दिव्य लोकतक पहुँचकर ईश्वरीय वस्तुओंका अनुभव करने लगता है। मन इसीके द्वारा विवेक पाता है और सच्चे ज्ञानके दैविक प्रकाशसे सत्य-पथपर चलना सीख लेता है। आशय यह है कि सदाचारके लिये पिपासित रहना, शुद्ध जीवनके लिये बुभुक्षित रहना, पूर्णत्वकी आकाङ्क्षाके द्वारा हर्ष तथा उत्साह पाना यही ज्ञानकी प्राप्तिके लिये सच्चा मार्ग है। दिव्य मार्गका यही आरम्भ है।

निष्कर्ष यह है कि मनुष्यको सदा सोचते रहना

चाहिये कि 'कोऽहं कां च मे शक्तिः' अर्थात् मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है तथा मेरी शक्ति कितनी है ? ऐसा जागरूक व्यक्ति ही आगे बढ़नेका अधिकारी होता है और आगे बढ़कर वह अपने लक्ष्यको पा लेता है। जो विषकृमिके समान विषयोंमें ही आनन्द मनाया करता है, वह कभी आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिये मनुष्यको अपनी वर्तमान दशामें दोषोंको देखकर दिव्य जीवन, दिव्य आनन्द, शाश्वत सुखके लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। पूर्णत्वकी आकाङ्क्षा इसी उत्कर्षकी सूचक एक महनीय भावना है। याद रक्खो—'महान् भावयन् महान् भवति' बड़ेकी भावना करनेसे मनुष्य महान् बनता है। फलतः यह भावना लक्ष्यपर पहुँचानेवाली आरम्भकी सीढ़ी है।

हमारा वैज्ञानिक धर्म

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराव भ० दूरकाल एम्० ए०, डी० ओ० सी०, विद्यावारिधि)

[गताङ्कसे आगे]

कर्मकी विवेक-व्यवस्था

जैसे प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृति, स्वभाव, शक्ति, प्रेरक बल, साधना आदि पृथक्-पृथक् होते हैं, उसी प्रकार उसके कर्ममें भी भेद होता है और तदनुसार उसके फलमें भी भेद होता है। जैसा कर्म वैसा फल। शुभका शुभ फल और अशुभका अशुभ। सारी दुनियाँ और प्रत्येक जीवके लिये यह नियम लागू है। इसको कर्मका सिद्धान्त या नियम कहते हैं। विज्ञानमें इसकी क्रिया और प्रतिक्रियाके नियमके साथ तुलना की जा सकती है। शुभाशुभ कर्मका फल जीवको अवश्य भोगना पड़ता है—आज, कल या कालान्तरमें भोगे बिना छुटकारा नहीं। मैं यह कर्म करता हूँ, इस अभिमान या ज्ञानसे किया कर्म 'ज्ञात कर्म' कहलाता है और इसके बिना किया हुआ कर्म 'अज्ञात कर्म' है। अज्ञात कर्ममें, 'मैं कुछ करता हूँ और इसमें दोष होना सम्भव है' ऐसा ज्ञान बहुत अंशमें होता है, इसलिये उसका भी फल तो प्रतिक्रियारूपमें होता ही है। जैसे जान-बूझकर मक्खी, टिड्डी या मछलीकी हिंसा करे तो वह 'ज्ञात दुष्कर्म' कहलायेगा, चलते समय पैरके नीचे आकर अनजाने कीड़े-मकोड़े मर जायँ तो वह 'अज्ञात दुष्कर्म' होगा। फिर, कर्मोंके अन्य प्रकारसे भी विभाग किये जा सकते हैं—

(१) कर्म, अकर्म और विकर्म अथवा (२) सात्त्विक, राजस और तामस कर्म अथवा (३) सत्कर्म, स्वाभाविक कर्म और दुष्कर्म अथवा (४) नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित्त कर्म अथवा (५) विहित, उपेक्षित और निषिद्ध कर्म अथवा (६) पुण्यकर्म, स्वभावग्रस्त कर्म और पापकर्म। इन सबका भी सूक्ष्म विवेक है और वह एक दूसरे दृष्टिकोणसे किया गया है। सामान्य रीतिसे इसमें भी सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे सहज ही विवेक किया जा सकता है। मनुष्योंमें जो उच्च कक्षाके हैं या होना चाहते हैं, उनको सात्त्विक कर्मों, सात्त्विक पदार्थों, सात्त्विक पद्धतियों, सात्त्विक देश और सात्त्विक कालका सेवन करना चाहिये, जिससे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी यथाकाल सिद्धि होती है; परमात्माकी कृपा होती है और ज्ञानकी प्राप्तिके द्वारा जीवनकी उत्तम संसिद्धि होती है। इसमें इतना विचार करना है कि पूर्वजन्मके कर्मके फलरूप ही अमुक स्थानमें, अमुक कालमें, अमुकके पेटसे और अमुक संयोगमें मनुष्यका—प्रत्येक प्राणीका जन्म होता है। इसलिये जन्म अकस्मात् नहीं होता, बल्कि पूर्वकर्मोंके फलस्वरूप है, इसलिये यह तत्तत् जीवके अधिकारका सूचक है। उसकी योग्यता-की सूचीके समान है। इसलिये उसका अनुसरण करके जो सहज कर्म प्राप्त हों, वे न्यूनाधिक सदोष हों तो भी उसकी भूमिकाके योग्य बनकर उनका पालन या अनुसरण करना चाहिये; क्योंकि अपनी भूमिकाकी तथा शक्ति आदिकी योग्यताके बिना छलाँग मारनेसे मनुष्य बीचमेंही लुढ़क जाता है। वस्तुतः सारे कर्मोंमें—कर्ममात्रमें कोई-न-कोई दोष रहता ही है; क्योंकि श्वासोच्छ्वासकी क्रियामें भी हिंसा है और विश्वके हितकी प्रक्रियामें भी असत्यमें अभिनिवेशरूप मानसिक क्रिया होती है। कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकारके कर्ममें इस प्रकार कोई-न-कोई दोष होता है इसलिये असली प्रयोजन करनेमें नहीं, बल्कि धीरे-धीरे कर्मसे निवृत्त होकर 'नैष्कर्म्य सिद्धि' प्राप्त करनेमें है। कर्मका प्रयोजन

है कर्मसे छुटकारा पाना। जिस-जिस वस्तु या पदार्थ या प्रवृत्ति या व्यक्तिसे जीव निवृत्त होता है, दूर हटता है, उस-उस वस्तु आदिसे उसको छुटकारा मिल जाता है। वह मुक्त हो जाता है। कर्मोंकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है और उनसे निवृत्ति ही मुक्त होनेका मार्ग है। जैसे वैद्य ओषधि देता है तो आगे चलकर रोग और ओषधि दोनोंका त्याग करनेके लिये ही देता है। इसके उपरान्त कर्मके सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण—ये तीन प्रकार भी प्रसिद्ध हैं। संस्कार, प्रारब्ध और पुरुषार्थ इनमें बलवान् कौन है अथवा ठीक कौन है—यह शङ्का बहुतोंको होती है। इसका समाधान यह है कि इन तीनोंका परस्पर सम्बन्ध है और इनमें जो अधिक तीव्र होता है उसके बलवान् होनेकी सम्भावना है। जो-जो कर्म जीव करता है उसका अदृष्ट संस्कार उसके मनपर पड़ता है, और उस संस्कारके अनुसार वह कर्म करता है। उन कर्मोंमें कुछ तो उसके बैंककी पूँजी-जैसे बन जाते हैं, उन्हें 'सञ्चित' कहते हैं। उनमेंसे कुछ काममें बरतनेके लिये निकाले हुए रुपयेके समान चालू जन्ममें साथ-साथ फलदानोन्मुख होते हैं, उनको 'प्रारब्ध' कहते हैं और इस जन्ममें जो कर्म किये जाते हैं वे एवजके लेन-देनके समान क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। सुख और दुःख—ये कर्म नहीं हैं—ये कर्मके फल हैं। पापका फल दुःख और पुण्यका फल सुख होता है। मनुष्य अपनी स्वेच्छासे—यद्यपि वह संस्कारों और संयोगोंके अधीन जो कर्म करता है, उसका फल भोगनेके लिये विश्व-नियामककी सत्ताके पराधीन है। जैसे किसीको लाठी मारनेमें मनुष्य स्वेच्छासे बर्तता है, परंतु उस अपराधकी सजा भोगनेमें वह पराधीन होता है। फिर यहाँ यह भी नोट करने योग्य है कि सुख-दुःख और विषय-भोग-प्राप्तिमें भी कार्य-कारणका सम्बन्ध नहीं है, बल्कि आकस्मिक सम्बन्ध हैं। वही स्त्री-पुत्र, घोड़ा-गाड़ी, धन-दौलत कभी तो सुखके और कभी अत्यन्त दुःखके कारण बन जाते हैं। सुख और दुःखके असली कारण तो सत्कर्म और दुष्कर्म ही होते हैं, जिसको धर्मकी भाषामें पुण्य और पाप कहते हैं। इससे यह भी फलित होता है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है; इस नियमके आधारपर मनुष्यके सुखी होनेका वास्तविक मार्ग यह है कि उसे सत्कर्म करना चाहिये और दुष्कर्मसे दूर रहना चाहिये। यानी धर्मका सर्वत्र प्रचार ही मनुष्यको सुखी करनेका वास्तविक मार्ग है।

धर्मके चार पाद

धर्म यानी ईश्वरोदित जीवन-चर्याका मार्ग। मनुष्यको ईश्वरने उत्पन्न किया, उसके साथ-साथ उसके कर्तव्याकर्तव्यका भी निर्माण किया। इसीका नाम उसका धर्म है। यह धर्म वेद, शास्त्र, पुराण, महाभारत, रामायण आदिमें विविध रूपोंमें वर्णित है। विभिन्न स्थलोंपर विभिन्न कारणोंसे विभिन्न तत्त्वोंके ऊपर जोर दिया गया है। धर्मको वृषभ यानी साँढ़ अथवा सिंहका रूप दिया जाता है। इसका मुख कल्याणरूप शिवतत्त्वके सामने या महामाया जगदम्बा प्रकृतिदेवीके सामने होता है। विहितका अनुसरणरूप धर्म साँढ़के समान गोवंशका विस्तार और अन्नादि प्रदान करता है, और निषिद्ध कर्म करनेवाले पापीको प्रकृति देवीका सिंह खा जाता है। धर्मके अथवा धर्मकी इकाईके चार पाद माने जाते हैं—(१) सत्य, (२) दया, (३) तपः और (४) शौच। 'सत्य'का मौलिक निर्णय वेदादि शास्त्रोंके आधारपर और उसके बाद शिष्टजनोंके सदाचारके आधारपर और तत्पश्चात् अपनी शुद्ध बुद्धिके आधारपर होता है। मनुष्यकी बुद्धि परिणामी, अपूर्ण और संशय-विपर्ययके अधीन होती है, इसलिये मनुष्यके लिये आवश्यक है कि शास्त्रका-परमतत्त्वका आधार ले। शास्त्र और बुद्धि दोनोंकी आवश्यकता है। परंतु ईश्वरोदित शास्त्र मुख्य हैं और बुद्धिको उनका अनुगमन करना चाहिये। इसके बिना कल्पित मन्तव्य सत्य नहीं, बल्कि केवल मन्तव्यमात्र है। एक प्रकारसे देखनेपर यह भी जान पड़ता है कि इन चार पादोंका आधार मनुष्यकी बुद्धि नहीं, बल्कि शास्त्र हैं; क्योंकि अबतक देखते हैं कि मनुष्यकी जीवन-निष्ठा या बुद्धिनिष्ठा इनमें स्थिर हुई नहीं दिखायी देती। संसारके सारे बड़े-बड़े धर्मपन्थ इन चार पादोंको मानते हैं। कुछ लोग दयाके स्थानमें अहिंसाको रखते हैं। इन दोनोंमें अहिंसा निषेधात्मक और दया विध्यात्मक स्वरूप है। अहिंसा विशेष व्यापक स्वरूप है और दया विशेष व्यावहारिक कार्यकर स्वरूप है। 'तपः' यह भी धर्मका मुख्य और आवश्यक पाद है। शम, दम, यम, नियम आदि सब तपके स्वरूप हैं। तपकी शक्ति अगाध है। सुर और असुर, देव और दानव, आस्तिक और नास्तिक—सभी इसका सहारा लेकर शक्तिशाली होते हैं। सांसारिक व्यवहारमें भी तपश्चर्या ही मनुष्यको, पाठशालामें या सेनामें, देशमें या परदेशमें, भूमिके ऊपर या हिमालयके शिखरपर सच्ची सहायता प्रदान करती है। इस तपःका मुख्य तत्त्व यह है कि मन और इन्द्रियोंका निग्रह किया जाय। धर्म इस प्रकारके मनोनिग्रहके पायेपर निर्मित होनेके कारण समाजके लिये अनेक प्रकारसे हितकारक

है। इससे स्वार्थ, अभिमान और विग्रह सीमित रहते हैं। दूसरेको क्षमा करने तथा स्वयं सहन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। तपके बाद धर्मका चौथा पाद शौच, यानी विशुद्धि अथवा पवित्रता है। शौचके भी वैज्ञानिक पद्धतिसे विभाग या प्रकार किये जाते हैं। व्यक्तिगत शौच विचारका, वाणीका और कायाका होता है। बहिःसृष्टिगत शौच देश, काल और वस्तुओंका शौच है। और वस्तुओंमें द्रव्य, गुण और क्रिया-का शौच है। इन सबका गम्भीर विवेक आद्य सनातन मानव-धर्मका विशिष्ट लक्षण है। मनु भगवान्के नामसे मानव और उनके द्वारा आदिष्ट होनेसे इसको मानव-धर्म नाम दिया जाता है। मानवधर्म काल्पनिक यथेच्छ धर्म नहीं। बल्कि सुस्पष्ट, सुश्लिष्ट और सर्वाङ्गपूर्ण मनु भगवान्से आदेश किया हुआ धर्म है, यह ध्यानमें रखने योग्य है। पशुधर्म और मानवधर्म—इस प्रकार विरोधाभाससे मानवधर्मकी कल्पना करना शास्त्रीय या वैज्ञानिक नहीं है। हमने पहले कह दिया है कि धर्म संसारके व्यावहारिक जीवनसे पर वस्तु नहीं, बल्कि उसीमें चलनेका ईश्वरसे प्राप्त हुआ कल्याणमार्ग है। खाना, पीना, पहनना, रहना, बोलना, चलना, चाहना, देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना, सङ्ग करना—ये सब जीवनकी विविध क्रियाएँ हैं। और इन सबमें कौन-सी योग्य है और कौन-सी अयोग्य है तथा कौन-सी उपेक्ष्य है—इसका समाधान, निराकरण तथा व्यवस्था करनेके लिये ही धर्म है। इसलिये कुछ लोग जो धर्म और जीवनको पृथक् कर देनेका प्रयत्न करते हैं, वह ठीक नहीं है। इन सारी प्रक्रियाओंमें जैसे विविधता होती है वैसे ही तीव्रता, गुण-दोष और हेयोपादेयता भी होती है। और ऐसी विविधता हम पन्थोंमें देखते हैं। तथापि उन सबको तत्त्वतः देखनेसे धर्मके ये चारों पाद उनके आधारभूत जान पड़ते हैं। आद्य आर्यधर्म इसमें बहुत ही गम्भीर और वैज्ञानिक विवेक करता है, इसलिये इसमें पद्धतियाँ, साधन, उपसाधन इत्यादिकी बहुत विवेक और प्रकार देखनेमें आता है। यह धर्म-व्यवस्था बुद्धिमान्-को भी मार्गदर्शन करानेवाली है तथा भौतिक सृष्टिमें सिद्ध प्रयोगकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रणालीकी यथार्थताके ऊपर अवलम्बित होनेके कारण, इस धर्म-व्यवस्थामें पर्याप्त सूक्ष्म विस्तृत विवेचन किया गया है। जैसे योगका शास्त्र किसी दूसरे देशमें विद्यमान नहीं है; तथा उसकी पद्धति और प्रक्रियाओंके प्रकार भी इस प्रकार विस्तारपूर्वक किसी देशमें ज्ञात नहीं हैं। ईश्वरकी प्रार्थना या उपासना सदा करनी चाहिये, ऐसा बहुत लोग मानते हैं, परंतु उसे दिन-रातके विभागके संधिकालमें करना, प्रत्यक्ष देव सूर्य या अग्नि आदिकी करना, स्नानादिसे पवित्र होकर करना, शुद्ध वस्त्र पहनकर करना, उसके आदिमें आचमन, प्राणायामादि करने, देश-कालका यथास्थित संकल्प करना, अपने पञ्चकोशका मार्जन करना, पापका भर्षण दूरीकरण करना, देवके पास उपस्थान करना और इनका भावपूर्वक अर्थानुसंधानके साथ ध्यानसहित जप करना चाहिये—ऐसी और इतनी विज्ञानपूर्ण इतनी व्यवस्था नित्य प्रभु-प्रार्थनामें किसी भी दूसरे धर्मपन्थमें बतायी गयी हो ऐसा नहीं दीखता।

भोजनके विषयमें भी देखो तो अद्भुत व्यवस्था है। दुष्ट मनुष्यका भावदूषित अन्न ग्रहण न करे, इस भावसे न भोजन बनावे कि मुझे ही खाना है। पवित्र होकर भोजन बनावे, प्रभुके लिये भोजन बनावे और भोजन करनेके पहले सारी सामग्री प्रभुको समर्पित करे, चूल्हे-चक्कीका दोष निवारण करनेके लिये अग्निको, देवताओंको, पितरोंको, अतिथिको, गौ, श्वान आदिको, चाण्डाल आदिको वैश्वदेवके द्वारा अन्नमेंसे भाग दे। भूपति, भुवनपति और भूतोंके पतिको भावनापूर्ण आहुति दे और फिर अन्नको अमृतमय उपस्तरण करके भोजनके पदार्थोंमें पङ्क्तिभेद किये बिना, जहाँतक हो सके मौनसे और अन्नदेवकी निन्दा बिना किये भोजन करे—यह सारी व्यवस्था कौन-सा 'कल्याण राज्य' (Welfare State) करेगा या कर सकेगा ? इसी प्रकार वंशवृद्धिमें, सदाचारमें, अर्थ-शौचमें, राज्यव्यवस्थामें, युद्धनियमनमें, समाजव्यवस्थामें और सर्वत्र जीवन-प्रेरणाका नियमन करनेमें, विद्वान्को, विचारकको और विधायकको आश्चर्यचकित कर डालती है, और 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' कहला दे, ऐसी प्रकृतिसिद्ध दैवी व्यवस्था वेदादि आर्यशास्त्रोंकी—मानवशास्त्रकी है।

धर्मके मूल आधारस्तम्भ

इस सुयोग्य रीतिसे विस्तारित धर्मके आधाररूप—इसके निर्णायक चार मूल आधार बताये गये हैं—(१) समस्त वेद, (२) ऋषि—तत्त्वविद् पुरुषोंकी रची स्मृतियाँ, (३) शिष्ट पुरुषोंका सदाचार और (४) अन्तरात्माकी तुष्टि—प्रसन्नता। इन चार साधनोंके द्वारा धर्माधर्मका निर्णय किया जा सकता है। इनमें नीचेकी अपेक्षा ऊपरको विशेष मुख्य समझना है, यानी सर्वोपरि आधार वेदका है। यह वेद इस प्रकार मानव-कल्याणके लिये ईश्वरके श्वासरूप परम कल्याणशास्त्र हैं, इसलिये धर्मकी रक्षा ही जिनका

मुख्य कर्तव्य है, उन ब्राह्मणोंको इसकी आनुपूर्वीको जरा भी बदले बिना, शिष्ट-परम्पराके अनुसार सुरक्षित रखना है । पद, क्रम, जटा आदि वेद-पठनकी रीतियाँ उसकी आनुपूर्वीकी ठीक-ठीक रक्षा करनेके लिये ही हैं । इस प्रकारकी आदिग्रन्थराशि—और इस दुनियाँकी अद्भुत व्यवस्थित भाषामें रचित तथा जीवनके सर्वाङ्गको प्रेरणा प्रदान करनेवाली और अतिपूर्वकालसे ईश्वरोक्त मानी गयी यह ऋग्वेदादि वेदोंकी, दुनियाँमें एक ही है, और अद्वैत है । इससे इसकी तुलना किसी दूसरे ग्रन्थके साथ नहीं हो सकती । वेदकी अनेकों शाखाएँ लुप्त हो गयी हैं; परंतु समस्त वेदके यथार्थ सम्पूर्ण तात्पर्यको जाननेवाले पारङ्गत ऋषियोंने स्मृतियों, पुराणों तथा महाभारत और रामायणादि ग्रन्थोंके द्वारा धर्मके स्वरूपका दर्शन कराया है । स्मृति-ग्रन्थोंमें मनुस्मृति मुख्य है, पुराणोंमें भागवत मुख्य है और भारतादिमें भगवद्गीता मुख्य है । इस प्रकार अनेकों ग्रन्थ अपने धर्मके प्रमाणरूप हैं, और इस प्रामाण्यमें पूर्वापर किसका प्राधान्य मानें, किस प्रकार उसको समझने और अर्थ करनेकी योजना करें, इत्यादिकी व्यवस्था करनेवाला भी शास्त्र है, जिसको पूर्वमीमांसा कहते हैं । यानी इस सारी व्यवस्थामें कहीं गड़बड़झालाके लिये कोई स्थान नहीं है । और मनुष्य जातिकी सारी महान् प्रक्रियाओं—विचारोंमें जैसे व्युत्पन्न पण्डितों, तत्त्ववेत्ताओंका आश्रय लेना पड़ता है, वैसे ही इससे भी लेना पड़ता है । जिनको जबरदस्ती या अन्यायका आश्रय लेना होता है, उनको तो कायदे-कानूनकी जरूरत ही नहीं पड़ती, अथवा उनकी अपनी इच्छा ही कायदा-कानून बन जाती है । इसी प्रकार जिनको स्वच्छन्द चलना होता है, उनको शास्त्रप्रमाण मानना मुश्किल जान पड़ता है ।

'फिर कौन-से शास्त्र ईश्वरोक्त हैं', इस विषयकी चर्चाके लिये भी अवकाश है, परंतु यहाँ इसका इतना ही समाधान पर्याप्त होगा कि स्वाभाविक रीतिसे ही जब प्रथम मानवसे या देवसे सृष्टि हुई थी तभीसे जगन्नियन्ताने धर्म बतलाया है; क्योंकि मनुष्यको बुद्धि देनेवाले प्रभु यदि ज्ञानके मौलिक तत्त्वों और सिद्धान्तोंको आरम्भमें ही न प्रदान करें तो प्रारम्भिक मनुष्यजातिके साथ अन्याय हो । इस मूलज्ञानमें धर्मका भी—यानी कर्त्तव्यका भी ज्ञान होना चाहिये, क्योंकि यह तो अत्यन्त आवश्यक है । इस मौलिक धर्म—ज्ञानमेंसे धर्मनिष्ठ, भक्तिनिष्ठ और ज्ञाननिष्ठ पुरुषोंने—महानुभावोंने देश, काल और जनताको देखकर पंथ अथवा सम्प्रदायोंका सृजन किया है । इसी कारण मूलधर्मकी सर्वाङ्ग-पूर्णतापर और पंथोंके विशेष अङ्गोंपर जोर देना सुस्पष्ट दीखता है । तथापि कौन-सा पुण्यग्रन्थ ईश्वरोक्त है, इसका विचार-विवेक अधिकांशमें श्रद्धा या आजन्म-संस्कारके ऊपर अथवा गुरुके उपदेशसे विचारके ऊपर आधारित है, परंतु उन सबमें सत्कर्म, उपासना, ज्ञान तथा धर्मके चार पादके ऊपर जोर जरूर देखनेमें आता है । फिर धर्म ऐसा पुण्यतत्त्व है कि यदि उसका थोड़ा भी आचरण किया जाय तो वह धीरे-धीरे उन्नतिके शिखरपर ले जाता है और अन्धकारसे निकालकर परम सत्यमें पहुँचा देता है, इसलिये हमारे शास्त्र पंथोंकी निन्दा या अनादर नहीं करते । बल्कि इन्द्रको उल्टा पाखण्ड खड़ा करनेवाला बतलाया है । देव और असुर दोनों एक ही पिताके भिन्न-भिन्न माताओंसे उत्पन्न संतानके रूपमें वर्णित हैं । और भगवान् बुद्धका अवतार देवताओंसे द्वेष करनेवालोंके संमोहके लिये है । ऐसा बताया है । इसी कारणसे भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है कि 'अपने-अपने कर्ममें आनन्दसे लगे रहनेवाला मनुष्य संसिद्धिको प्राप्त करता है, अपना धर्म त्रुटियुक्त भी जान पड़े तो भी उसको अच्छा ही मानना चाहिये । अपने स्वभावानुसार प्राप्त हुए धर्म-कर्मसे पाप भी नहीं लगता ।' इसी कारण वेदोक्त धर्ममें धर्मको परिवर्तन करने-करानेकी उत्कण्ठा नहीं दिखायी देती । और मौलिक धर्म होनेके कारण, तथा किसी एक महामानव या महात्माके द्वारा रचित न होनेसे आदिधर्म होनेके कारण इसका कोई स्थिर नाम भी नहीं है; और इसको वैदिक धर्म, सनातनधर्म, आर्यधर्म, हिंदूधर्म इत्यादि नामोंसे पुकारते हैं । इस धर्मके प्रमाण शास्त्रोंको पीछे सुनिश्चित, प्रकाशित तथा विस्तृत करनेवाले छः अङ्ग हैं—(१) शिक्षा, (२) छन्द, (३) व्याकरण, (४) कल्प, (५) निरुक्त और (६) ज्योतिष । तथा चार उपवेद हैं—(१) आयुर्वेद, (२) धनुर्वेद, (३) गान्धर्ववेद और (४) स्थापत्यवेद । ये मानव-जीवन शास्त्रकी अन्य दिशाओंमें शास्त्रीय—वैज्ञानिक प्रकाश डालते हैं । ये इतने विशाल हैं कि इनमेंसे प्रत्येकपर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं ।

देश-काल-वस्तु विचार

वेदोक्त धर्ममें देश, काल और वस्तुके विचारको बहुत ही महत्त्व दिया गया है । संध्याके संकल्पमें अथवा प्रत्येक

शुभाशुभ कार्यके संकल्पमें यह बात स्पष्ट दीख पड़ती है । परंतु हमारे—मानवजातिके ऋषियोंने अपनी दिव्यदृष्टिका अनुसरण करके भूगोल या खगोलका तथा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इतिहासके ऐसे भागोंका दिग्दर्शन कराया है कि जो या तो सनातन है, या दिव्य है अथवा उपकारक है । हमारे ऋषियोंने दस दिशाएँ बतलायी हैं, इनमें चार दिशाएँ, चार कोण, अधः और ऊर्ध्वका समावेश होता है । कोणोंके भी नाम हैं, और इनके साथ देवताओंका सम्बन्ध है । दिशाका प्रमाण ध्रुवके आधारपर है, और सूर्यके उत्तरायण और दक्षिणायनके साथ मरणका सम्बन्ध भी बतलाया गया है । तारे, ग्रह और राशियाँ मनुष्यके जीवनके ऊपर किस-किस प्रकारका असर डालती हैं, इसकी भी बहुत गम्भीर समीक्षा की गयी है । और सारी सृष्टिकी एकात्मता और उसके पारस्परिक प्रभाव भी वैज्ञानिक दृष्टिसे इस प्रकार दिखलाये गये हैं । कतिपय पाश्चात्त्य विद्वानोंने कुछ पुराणोक्त विचारोंपर टीका-टिप्पणी की है परंतु वस्तुतः पुराण जितना हमारी धारणामें आता है, उससे कहीं अधिक गम्भीर तत्त्व उसमें निहित है, और उसका अर्थ ठीक न समझ सकनेके कारण, अथवा साधारण लोगोंके समान बाह्यार्थ मात्र ग्रहण कर लेनेके कारण यह बेसमझी आ गयी है । 'प्रलयके अन्तमें क्षीरसागरमें शेषपर पौढ़े हुए नारायण' इत्यादि ऋषिप्रोक्त वर्णन चार प्रकारके अधिकारियोंको—यानी ज्ञानी, मुमुक्षु, विषयी और पामर—इन चार प्रकारके मनुष्योंको विभिन्न प्रकाश देकर उनका उपकार कर रहे हैं । और वह रसायनशास्त्र या पदार्थ विज्ञानकी पीठिका-जितना ही व्यवस्था, विवेक वैज्ञानिक-जितनी ही विद्वत्ता और उसके जिज्ञासु जितनी उपासनाकी माँग करते हैं, रजस्तमो मूलक बुद्धि उनके साथ शायद ही न्याय कर सकेगी । जैसे देश सापेक्ष है, वैसे ही काल भी सापेक्ष पदार्थ है, जिसके समझनेके लिये अभी विद्वान् लोग लगे ही हुए हैं । इसकी सापेक्षताका दर्शन कराते समय ये परमात्माका एक स्वरूप है इस बातपर आर्यशास्त्र बहुत जोर देते हैं । 'कलना' करनेवालोंका प्रभुरूप काल भगवान्का ही, परमात्माका ही स्वरूप है (भागवत ३ । २९ । ३८) फिर कालकी गणनाका प्रारम्भ द्रव्यके साथ उसकी सापेक्षताके कारण अणुसे यानी एक परमाणुके भोगसे कालका नाम परमाणु-काल देकर प्रारम्भ किया है, और फिर परमाणु भी एक कल्पना ही है । यह [illegible]चित करनेके लिये उसका स्वरूप बतलाते हुए [illegible] हैं कि जिसके कारण ऐक्यका भ्रम होता है वह मत है । फिर जिसमें अनेक चेष्टाएँ दीख रही हैं उसको अधिष्ठान देनेवाला काल ही है । इस कालके अनन्त स्वरूपके आगे लाखों-करोड़ों वर्षोंका कोई हिसाब नहीं है । और इस कारण अनन्तके एक निमेषमें करोड़ों ब्रह्माण्डोंके आदि-अन्तका समय समाविष्ट हो जाता है । यह विशाल दृष्टि भी मनुष्यकी मानी हुई सृष्टिकी क्षुद्रता और मिथ्यात्वको दिखलाती है । फिर वस्तुओंके विषयमें हमें ज्ञात होता है कि सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई । उसमें कौन-कौनसे कारक पुरुष, अवतार, महापुरुष कब-कब हुए, इसका वर्णन पुराणोंमें है । और इसका पुनरावर्तन बहुधा हम देखते हैं अर्थात् इस ऐतिहासिक दृष्टिका प्राधान्य भी शास्त्रोंमें दीख पड़ता है । तथा इसके साथ यह सब मिथ्या है, नाशवान् है—यह तात्त्विक दृष्टि भी घोषित की गयी है । इस ऐतिहासिक दृष्टिसे जहाँ सब पदार्थोंकी विशेषता बतलायी गयी है, वहाँ तात्त्विक दृष्टिसे उनका मिथ्यात्व समझाकर इनके अधिष्ठानरूप परमात्माका सर्वत्र समत्व दिखलाया गया है । एकसे जहाँ अधिकार-भेदके अनुसार त्रिगुणके अनुसार अधिकार-भेद फलित होता है, वहाँ दूसरेसे सर्वात्मभाव प्रदर्शित होता है । इस प्रकार पदार्थोंका और जगत्का सापेक्षत्व दिखलाया गया है । इस रीतिसे जगत् अज्ञानीको सत्य, विचारकको अनिर्वचनीय और विवेकी या ज्ञानीको मिथ्या दीख पड़ता है । इन सब गम्भीर विचारोंके कारण हम इस मौलिक ईश्वरोक्त धर्ममें प्रत्येक पदार्थमें, प्रत्येक मनुष्य आदिमें, सृष्टिमें, कर्ममें, देशमें और कालमें सात्त्विक, राजस और तामसकी समीक्षाका विवेक देखते हैं । जैसा दूसरी जगह कहीं देखनेको नहीं मिलता । फिर इसीसे बहुतोंको समझमें न आनेवाली विविधता भी अधिकारभेदमें स्पष्ट हो जाती है । उदाहरणार्थ केशको ही लीजिये । ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी, संन्यासी, कुमारी, सधवा, विधवा आदि सबकी विधि पृथक्-पृथक् दीख पड़ेगी । और उसके पीछे उसका तत्त्वज्ञान तथा उन-उन मनुष्योंके प्रति उसकी प्रतिक्रियाका गम्भीर दर्शन दिखायी देगा । इसी प्रकार पदार्थोंकी शुद्धि-अशुद्धिका निर्णय भी बतलाया गया है, और सब वस्तुएँ पारमार्थिक दृष्टिसे मिथ्या होनेपर भी द्रव्यकी विशुद्धिके लिये उनमें गुण-दोष, शुभत्व-अशुभत्व, सत्त्वादि गुणोंके अनुसार निर्णीत किये गये हैं, जिससे धर्म, व्यवहार और संसारयात्रा—तीनों सुव्यवस्थित रहती है । (भागवत ११-२१-३) अपने-अपने अधिकारमें निष्ठासे गुण और उसके विरुद्ध होनेसे दोष—ऐसी व्यवस्था की गयी है । शास्त्रकार कर्ममेंसे छूटनेके लिये कर्मकी व्यवस्था

करते हैं, जैसे वैद्य ओषधिसे छूटने—यानी एक प्रकारसे बीमारीसे छूटनेके लिये ओषधि देते हैं, और रोगी माँगे तो भी उसे अपथ्य नहीं देते।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव, जगत् और ईश्वरका निरीक्षण बहुत ही सूक्ष्म रीतिसे और गम्भीर वैज्ञानिक पद्धतिसे हमारे धर्मशास्त्रोंमें किया गया है। इस सनातन तत्त्वके साङ्गोपाङ्ग विवेकके कारण यह धर्म 'सनातन' कहलाता है। और अविनाशी है। इस धर्ममें अनेकों प्रमाण-ग्रन्थ हैं। अग्नि, सूर्यादि प्रत्यक्ष देवताओंसे लेकर गाय, तुलसी और कन्या-तककी भगवद्विभूतियोंकी पूजा है। इसमें सब मनुष्योंके लिये सामान्य धर्म और विविध जाति-गुण-कर्मप्रधान समुदायोंके विशेष धर्म भी हैं। इसमें कालगणना काल्पनिक नहीं, बल्कि ग्रहादि वस्तु स्थितिके आधारपर स्वीकार की गयी है। इसमें विविध फल देनेवाले सैकड़ों व्रतों, नियमों और दानादिका विधान है। इसमें प्रभुकी सृष्टिमें दृश्यमान प्रभुके गुण-कर्म और जन्मके अनेकों गीत, अनेकों स्तोत्र हैं। इस धर्ममें समस्त सत् पुरुषार्थोंके साधनकी पूर्ण व्यवस्था है। राज्य-विधान, समाज-विधान, विद्या-विधान, साहित्य-विधान, कला-विधान और सर्वोपरि जीवन-विधान इस धर्मके अङ्ग होकर अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और सुफलित हुए हैं। इतिहाससे, संतोंके अनुभवसे और अपने मननसे यह हमारे सामने प्रत्यक्ष है। परम सत्यके तत्त्वको, साधनको और उसकी परीक्षाको भी यह हमारे दृष्टिगोचर कर देता है। इसका निर्देश इतना सफल, अमोघ और सच्चा है कि इसके द्रष्टाकी दृष्टि भूत, भविष्य और भव्यको मानो करामलकवत् देखती है, और ऐसा होनेमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि प्रभुने श्रीमुखसे ही कहा है कि धर्म मेरा हृदय है, मेरा आत्मा है। हृदय कहकर यह बतलाया है कि जगत्की सारी रक्तवाहिनी शिराएँ इसीमेंसे और इसीमें बहती हैं, इससे संसारका मिथ्यात्व, जो उपनिषदोंका उपदेश इसकी प्रतिच्छायामें आ जाय। इसीलिये प्रभु कहते हैं कि धर्म मेरा आत्मा है। क्योंकि संसारके अन्धकारमेंसे अविनाश-के प्रकाशमें ले जानेवाला धर्म है। सब योगोंका समावेश जैसे मनोनिग्रहमें होता है, वैसे ही सब धर्म परमात्मामें लय हो जाते हैं, और जीवात्माके पुण्यकर्म जब उदित होते हैं तब वह धर्मका अनुसरण करके संसारसे तर जाता है और परम पदको सिद्ध करता है।

'धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्।'

भारतीय मुद्राओंका वैज्ञानिक दृष्टिकोण

(लेखक—श्रीशंकरलालजी वर्मा एम्० ए०)

तत्त्वोंके घटन और प्रत्यावर्तनको स्पष्टरूपसे और प्रस्तुत किया जा रहा है।

एक बार पित्तविकृत मूत्ररोगसे पीड़ित एक स्त्रीके वायुके विकारके कारण मूत्रग्रंथि शून्य हो गयी थी। मूत्र उसे तीन दिनोंसे नहीं आता था। ऊपर केवल वायुके विकारकी जाँचकर वायुको सम करनेका प्रयत्न किया गया। चालीस मिनट बाद स्त्री बेहोश हो गयी और मरनेकी स्थितितक पहुँच गयी। वातको बढ़ाकर अग्निको मन्द किया और दूसरे दस मिनटोंमें ही स्त्री फिर बेहोशी छोड़कर सचेत हो गयी। जैसी स्थितिमें उस स्त्रीको देखा था, उसी स्थितिमें दुबारा लाकर क्षमा माँगकर घर आ बैठा। मनन करता रहा पर मैं कोई रजिस्टर्ड वैद्य तो था नहीं और न कोई डाक्टर। मृत्युके भयसे सम्मिलित तत्त्वोंमें हाथ डालनेका साहस नहीं होता। एकतत्त्वीय रोगोंमें बहुत सफलता प्राप्त होती है। तत्त्वोंके सम्मिलनका निर्णय अवश्य दे सकता हूँ, पर प्रयोग कुशल शास्त्री करें तो हितकर होगा। इसीलिये मैं चाहता हूँ कि जटिल प्रयोगमें किसी वैद्यकी सहायता लूँ। पर आजके युगमें ऐसा कौन वैद्य है जो मेरी इन ऊटपटाँग बातोंमें अपनी आर्थिक हानि करनेमें बाध्य हो सके।

मैं भूल गया—रात्रिको करीब पौने नौ बजेसे करीब सवा दस बजेतक किसी व्याधिका पीड़ित रोगी तात्त्विक अभ्यास करे तो अधिक हितकर होगा। किसी रोगको दूर होनेमें करीब एक मासका निरन्तर अभ्यास आवश्यक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि रोगीको एक महीने बाद ही आराम होगा, अपितु उसे आराम तो उसी रोज मिलने लगेगा, पर किसी भी साधारण रोगके लिये, कम-से-कम समूल नष्ट करनेके लिये एक मासका अभ्यास आवश्यक है—

तो तत्त्वोंके घटन और प्रत्यावर्तनका और स्पष्टीकरण यह है—

(१) तर्जनीको मोड़कर उसी हाथके अंगुष्ठके आधार (गुद्दे) पर अंगुलिका अग्रभाग रक्खे और उसी अंगुलिको अग्रभागपरके जोड़से उसी अंगुष्ठको मोड़कर

दबाये तो वायुतत्त्व विघटित होता है । विकृत तत्त्वकी स्थितिमें अंगुलीका अग्रभाग अंगुष्ठके गुद्देपर दबनेकी स्थितिमें स्थिर नहीं रहता; पर अभ्याससे धीरे-धीरे स्थिर रह जाता है । इसीसे निदानकी त्रुटि मालूम हो जाती है । इसी तरह अन्य तीन अंगुलियोंकी क्रिया है ।

(२) तर्जनीको मोड़कर हथेलीकी तरफसे अंगुलिके अग्रभागको अंगुष्ठके अग्रभागसे मिलानेपर वायुतत्त्वका प्रत्यावर्तन हो समताको प्राप्त होता है । जीवकी प्रकृति किसी भी तत्त्वको ग्रहण करनेकी है । अतः इसमें न तो कठिनाई अनुभव होती है और न यह पता लगता है कि क्रिया उचित है या अनुचित । इसमें निदानकी इसीलिये आवश्यकता पड़ती है । प्यासकी स्थितिमें वायु और जल दोनों ही तत्त्वोंके प्रत्यावर्तनकी आवश्यकता रहती है, अतः प्यासको मिटानेके लिये तर्जनी और कनिष्ठिकाको पीछेसे मोड़कर दोनोंको अग्रभागसे मिलानेपर प्यास शान्त हो जाती है । तर्जनीकी भाँति अन्य तीन अंगुलियोंका प्रयोग है । इनसे भौतिक लाभ उठानेके लिये देहका सम होना आवश्यक है । उदाहरणार्थ—भूख और प्याससे निवृत्त होना । पर दीर्घशंकाकी क्रिया किसी भी स्थितिमें सम्भव हो जाती है ।

(३) दाहिने हाथके अंगुष्ठको मोड़कर कनिष्ठिकाके मूलसे दो जौ उसके अग्रभागको रखकर बाँये हाथकी हथेलीमें दाहिने हाथको रखकर बाँये अंगुष्ठसे दाहिने अंगुष्ठको दबानेसे अग्नि-तत्त्व मन्द पड़ता है और अग्नितत्त्वको तीव्र करनेकी क्रिया इसके बिल्कुल विपरीत है ।

तर्जनीकी क्रियाके द्वारा समस्त वात-विकृत रोगोंको दूर किया जा सकता है, पर वात-विकारके अतिरिक्त अन्य तत्त्व सम्मिलित नहीं होना चाहिये ।

मध्यमाकी घटनवाली क्रियासे शून्यको सम करके बहरेपनको मिटाया जा सकता है । मेरा तो विश्वास है कि जन्मसे बहरेपनका रोग भी अनेक महीनोंके अभ्याससे दूर हो जाना चाहिये । कम सुननेवाले या कान बहनेवाले लगभग पाँच व्यक्तियोंको इस क्रियासे सुनना सम्भव हुआ है ।

अनामिकाकी घटन क्रिया दीर्घशंका संभव करती है और प्रत्यावर्तनकी भूख शान्त करती है । मेरा अनुभव है कि सांसारिक पदार्थोंका प्रयोग भूख शान्त करनेके लिये किया जाय तो विटामिनोंकी या किसी और पौष्टिक पदार्थकी कमी रहती है, पर इस दैविक क्रियासे पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है और शरीरकी थकावट दूर हो जाती है । सम्भव है इस क्रियाके ज्ञाता ऋषियों और तपस्वियोंको इसीलिये सांसारिक पदार्थोंकी तृष्णा नहीं रहती ।

कनिष्ठिकाकी घटनकी क्रियासे जलोदर रोग शान्त होता हैं और भयानक गर्मीमें इसकी प्रत्यावर्तन क्रियासे ठंडक प्राप्त होती है और देहको गर्मी नहीं सताती । प्यासको मिटानेकी क्रिया पहले बता दी गयी है ।

अङ्गुष्ठकी घटन या प्रत्यावर्तनकी क्रिया दाह—जलनमें सहायता नहीं देती; क्योंकि दाह-जलनमें पित्त साधारणतः प्रधान रहता है ।

मध्यमाकी घटन क्रियामें शीघ्र प्रयोगकर्ताको कानमें एक विशेष प्रकारका नाद सुनायी देने लगता है और एक विशेष प्रकारकी नाड़ीकी गतिका अवरोधन या प्रचालन प्रारम्भ हो जाता है और धीरे-धीरे यह नाद शान्त होकर सम हो जाता है, श्रवणेन्द्रिय अपना कार्य प्रारम्भ कर देती है ।

तत्त्वोंके सम्मिलनका दूसरेके मृत्युभयसे अपनी देहपर ही प्रयोगके प्रयासमें संलग्न हूँ, पर प्रतीत होता है कि यह एक महाविज्ञान है; इसका कभी अन्त नहीं होगा । अतः निष्कर्ष यह है कि इन तत्त्वोंका सम्मिलनद्वारा प्रतिफल उस समय भी रोगोंको दूर करता रहेगा, जब कि बाह्य प्रकृति अपने गुणोंको लुप्त करती रहेगी । आवश्यकता होगी उस समय मनुष्यको जीवन दान लेनेके लिये अन्तःप्रकृतिको सम करते रहनेकी । उस समय भी हम अस्तव्यस्त प्रकृतिमें भी जीनेका साहस कर सकेंगे ।

अगला कार्य अन्य चार तत्त्वोंसे रोगोंका सम्बन्ध स्थापित करना और कफ, पित्त विकारोंके तत्त्वोंके आधारपर आधारित करना होगा । रोगभेद आयुर्वेदग्रन्थोंकी सहायतासे वात-पित्त-कफके आधारपर जानकर उनका तात्त्विक निदान करना होगा । इस कार्यको करनेसे पहले ऋषियोंके द्वारा बतायी गयी मुद्राओंको जानना वाञ्छनीय है । ऋषियोंने तत्त्वोंके सम्मिलनके क्षेत्रको छोड़कर चौबीस और आठ,—बत्तीस मुद्राओंको ही क्यों निर्धारित कर दिया । क्या इन मुद्राओंमें संसारके सब रोग निहित हैं ? क्या इन मुद्राओंके क्षेत्रको और विस्तृत नहीं किया जा सकता ? क्या प्रत्येक मुद्राका विश्लेषण नहीं किया जा सकता ?

संसारमें रोगोंका निदान-क्षेत्र कितना विस्तृत है और इसकी सीमाको प्राप्त करना मनुष्यके लिये असम्भव-सा है पर

आपसी सहयोगसे कई जीवन मिलकर निरन्तर इसको विस्तृत कर सकते हैं। रोगोंका भेद जानकर प्रत्येक रोगके विकारोंसे तात्त्विक क्रियाको निर्धारित करना यह वादका क्षेत्र है। अतः पहले अन्तकी मुद्राओंके आठ विश्लेषणका विषय चुनता हूँ।

अन्तकी आठ मुद्राएँ ये हैं—

१. सुरभि, २. ज्ञान, ३. वैराग्य, ४. योनि, ५. शङ्ख, ६. पङ्कज, ७. लिङ्ग और ८. निर्वाण।

सुरभि मुद्रामें वायु और आकाशका सम्मिलन होता है; पृथ्वी और जलका सम्मिलन होता है और अग्नितत्त्व शान्त रहता है। जल और पृथ्वीके मिलनेसे ब्रह्माण्डमें उर्वरा शक्ति उत्पन्न होती है। इस शक्तिका उत्तेजन जल है। वायु और आकाशके मिलनेसे ब्रह्माण्डका चक्र स्थिर होता है। निरन्तर अभ्यासके द्वारा ब्रह्मचक्र अर्थात् नाभिचक्र अपनी स्थितिको ग्रहण करता है। सुरभि मुद्रामें अग्नितत्त्वको यदि जल-तत्त्वके मूलमें लगा दिया जाय तो पित्तसे विकृत समस्त मूत्र रोग शमन होते हैं; यदि अग्नितत्त्वको पृथ्वीतत्त्वसे सम्मिलित करे तो सुरभि मुद्राद्वारा पेटके समस्त रोग पाचन क्रियाकी विकृतिसे होनेवाले नष्ट होते हैं। यही मुद्रा निरन्तर अभ्यासके द्वारा षट्-कमलका भेदन सम्भव करती है। इसीलिये आचार्यों-ने सबसे पहले इसी मुद्राका निर्णय किया है। इसके पश्चात् वायु और अग्निके उद्रेक, और अग्नि और वायुके व्यतिरेकसे मस्तिष्कके ज्ञानतन्तु खोलनेके लिये ज्ञानमुद्राका निर्णय दिया है। समाधिस्थ व्यग्र योगीके लिये सुरभि मुद्रा करना वाञ्छनीय है। यदि सुरभि मुद्रा की जाय तो कफ प्रकृतिसे विकृत मनुष्यके साधारण रोग नष्ट होते हैं। अग्नितत्त्वको शून्यसे सम्मिलित करनेपर सुरभि मुद्राके निरन्तर अभ्याससे व्यक्ति अपना शून्य बढ़ाकर विश्वके कोलाहलसे दूर हो जाता है। शून्य बढ़ जाता है पर शरीरके अन्यतत्त्व अपना संतुलन न खोकर मानवी क्रियाको दैवी क्रियाकी ओर निरन्तर खींचते रहते हैं। विश्वके इस कोलाहलसे दूर निरन्तर अभ्यस्तयोगी विश्वसे परे अनेक नाद सुननेमें सफल होता है। बिना इस मुद्राके इस प्रयोगके योगी समाधिमें नाद सुनते अवश्य हैं, पर इतनी स्पष्टतासे नहीं। ब्रह्माण्डमें लयमयकी क्रिया अन्य मुद्रासे सम्भव हो जाती है। वायु-तत्त्वमें यदि अग्नि-तत्त्वका सम्मिलन सुरभि मुद्रामें किया जाय तो समाधिके प्रारम्भिक विद्यार्थीको वायु-अवरोधकी बाधा उपस्थित नहीं रहती। वात-विकार किसी सीमातक शमन अवश्य होता है किंतु इसी शमनके साथ रोगीको मूत्र और पेट रोगकी पीड़ा तीव्र हो जाती है। इसीलिये वात-विकार अकेला हो तो ऐसा किया जा सकता है। अभ्यस्त योगीको तो कोई भी बाधा उपस्थित नहीं होती। पर भोगीको अन्य विकारोंकी उपस्थितिमें यह मुद्रा वातका शमन होनेसे हानि कर बैठती है रोगी मर भी सकता है। पर यदि कफ विकारकी गति अधिक और पित्तकी कम हो तो वायुके शमनसे शीतका भय होता है। और गठिया हो जाती है। इसमें शमनकी क्रिया किसी सीमा-तक शमन पाकर तीव्रातितीव्र गतिसे वृद्धि प्राप्त कर लेती है। इसी कारणसे गठिया होनेकी सम्भावना बतायी जाती है और अग्नितत्त्वके उल्टा शमन पानेके साथ-साथ पाचनक्रिया भी विकृत हो जाती है। यदि पित्तके विकारकी गति तीव्र और कफकी गति कम हो तो मूत्राशयपर प्रभाव पड़कर मूत्राशयके फटनेका भय रहता है। अण्डवृद्धिका रोग होनेकी सम्भावना होती है। वायुका शमन विपरीत गति प्राप्तकर अग्निको मन्द-कर पूरे वेगसे मूत्राशयको या अण्डकोषको फुला देता है। इससे मृत्यु नहीं होती, पर पित्तमें वातका व्यतिरेक होनेसे पित्तप्रधान वातज रोगोंका आविर्भाव हो जाता है। यदि वातके अतिरिक्त अन्य विकार देहमें उपस्थित न हों तो सुरभि मुद्राके द्वारा वात—शमनके प्रयोगसे वातविकृत उदररोग शान्त हो जाते हैं।

वात और कफके प्रधानत्वमें सम्मिलित विकारोंके रोगोंमें सुरभि मुद्राका प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिये। इससे लाभ यदि नहीं होता तो हानि अवश्य होती है। न्यूनाधिक मात्रामें विकार सम्मिलित होनेपर ही हानि और खतरा उपस्थित होता है। पित्तप्रधान रोगोंके लिये सुरभि मुद्रका प्रयोग बिल्कुल नहीं है। केवल मात्र पित्तरोगोंमें सुरभि मुद्रामें यदि बायें हाथके अङ्गुष्ठसे दायें हाथके अंगूठेको दबाये तो अग्नि मन्द पड़कर जलका संतुलन बिगड़ जाता है और पृथ्वी-तत्त्वके प्रधानत्वमें कफके विकार अधिक बढ़ जाते हैं। अतः पित्तविकारमें इसका प्रयोग वर्जनीय है। योगीके लिये सुरभि मुद्रामें अग्नि-तत्त्वको बिल्कुल पृथक् रक्खा गया है; क्योंकि योगी शकट मुद्राके द्वारा पहले ही पित्त अर्थात् क्रोधको जीत लेता है। सांसारिक मनुष्यों और योगीमें बहुत अन्तर है; क्योंकि योगी समस्त मुद्राओंके अभ्याससे पहले ही अपनी देहको सम कर लेता है। उसके लिये किसी विकारको शमन करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। बीच-बीचमें निर्धारित समाधिको बार-बार तोड़नेसे या सांसारिक पदार्थोंको अधिक देखनेसे तपस्वियों या योगियोंमें पित्तकी अभिवृद्धि होकर क्रोधका कारण बन जाती है। ऐसी स्थितिमें इसकी भयानकता

बड़ी विकराल हो जाती है ; क्योंकि इस स्थितिमें दोनों गतियोंका चक्रभेदन होता है और विकारका शमन न होकर अवरोधन होता है । अतः अवकाश पाकर बड़ी तीव्रगतिसे विस्फोटका कारण होता है । पित्त-विकारमें सुरभिद्वारा अग्निको शमन करनेसे अन्य सभी विकार अपना संतुलन खो देते हैं । सांसारिक घटनासे वायुके गत्यावरोधका कारण और सरलतापूर्वक समझाया जा सकता है । क्रोधके उपकरण प्रस्तुत होनेपर ऐसे व्यक्तिको क्रोधका विकास गतिकी त्वरता और मादकताकी तन्त्रीके आधारपर होता है । इस स्थितिमें क्रोधी हाँफने लगता है । परिणाम निकलता है कि कफ-प्रवृत्ति और वायु-प्रवृत्ति दोनों अवरोध होकर उल्टी गतिको प्राप्त करती हैं, तब वायु तीव्र हो जाती है और फुत्फुस यन्त्रकी सीमाका भेदन कर श्वासकी गतिको तीव्र कर डालती है । कफका अवरोध होनेसे उल्टी गति प्राप्त होकर देहमें निर्बलता लाती है । शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल होकर रक्तकी साधारण गर्मीको भी चौपट कर देती है । यदि इस क्रियाका शीघ्र शमन न किया जाय तो हृदयकी गति बंद होनेमें आश्चर्य नहीं होता । व्यक्तिका हार्टफेल भी हो जाता है । प्रयोगकर्ताको स्मरण रखना चाहिये कि पित्तमें अग्नि और जल दोनोंके विकार सम्मिलित हैं । इसलिये केवल अग्निको शमन करनेसे उपर्युक्त विकार उत्पन्न होकर अन्तका कारण बन जाते हैं; क्योंकि सुरभि मुद्रामें जल-तत्त्व पृथ्वीसे सम्मिलित होकर अपनी गतिको अतिरेक देता है और वायुतत्त्व शून्यसे सम्मिलित होकर स्वच्छन्दगतिको प्राप्त कर लेता है । ऐसी स्थितिमें प्रयोगकर्ताके लिये पूर्ण निदानद्वारा सचेत होना अत्यावश्यक हो जाता है । पित्तविकारके मूत्र-रोगोंमें अग्निका जलके मूलमें सम्मिलित करना तो सुरभि मुद्रामें लाभदायक है; क्योंकि अग्नि उसमें स्वयं अवरुद्ध नहीं होती, पर बढ़कर जलतत्त्वका पृथ्वीके साथ शमन करती है और ऐसा ही वह पृथ्वीतत्त्वके साथ करती है, पर पित्तके अन्य रोगोंमें इसका प्रयोग नहीं होता ।

सुरभि मुद्रा योगीके लिये केवल ब्रह्मचक्रको भेदनेके लिये ही सहायक होती है । ब्रह्मचक्रका भेदन तभी सम्भव होता है जब पाचन क्रियाके रोग दूर हो जाते हैं । इसलियें सुरभि मुद्रा पाचन क्रियाके रोगोंको मिटाकर ब्रह्मचक्रको स्थिर करती है । योगीको अपने विकारोंको सम करनेकी आवश्यकता नहीं होती । पाचन क्रियाके रोग निश्चित नहीं होते हैं । क्षण-क्षणमें पाचन क्रियाका व्यतिरेक चलता है, नियमित व्यक्ति या कठोर संयमीकी पाचन क्रिया भी तत्त्वोंके प्रत्यावर्तनसे कुछ अंशोंमें विकृत होती रहती है । गलती हो जानेसे समाधिव्यग्र अभ्यासी मृत्युको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि पाचन क्रियाके तनिकसे विकृत होनेसे षट्-कमलका खुलना कठिन-सा हो जाता है । इसके द्वार अधिक हैं किस तरह खुले ? और केवल सुषुम्नाको छोड़कर अन्य ओर किसी द्वारसे भी खुलनेपर या थोड़ा-सा लीक होनेपर भी मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाती है । अतः आचार्योंने सुरभि मुद्राका निर्माण इसी विज्ञानके आधारपर पृथ्वी और जलके सम्मिलित वेगसे पाचन क्रियाको अनुगामी बनाकर निर्णयात्मक किया है ।

रोगी और भोगी दोनों ही अपने विकारोंमें ग्रस्त होते हैं इसलिये उनके विकारोंकी प्रधानता जानकर पित्त और कफमें अग्नितत्त्वका उद्रेक दे दिया जा सकता है, शमन नहीं किया जा सकता । निश्चित निदानके पश्चात् ही इस मुद्राका प्रयोग लाभप्रद हो सकता है । पित्तप्रधान, कफ-प्रधान, वातप्रधान अथवा अलग-अलग प्रधानत्वमें अन्य विकारोंके प्रत्यावर्तनवाले रोगीके लिये सुरभि मुद्रामें प्रयोग नहीं किया जाता अर्थात् प्रधानत्वमें या प्रधानत्वमें अन्य विकारोंके प्रवर्तनमें इस मुद्राका प्रयोग नहीं किया जा सकता । जब वात और कफ इन दोनोंमेंसे कोई भी प्रधान न हों और न पित्त प्रधान हो और दोनोंका वेग समान हो, एक दूसरा अधिक या कम वेगवाला न हो तब साधारण सुरभि मुद्रा प्रयोगमें लायी जा सकती है । अग्निका उद्रेक उस समय न तो वायुमें ही देना चाहिये और न जलमें ही । यदि कुछ अंशमें ही पित्त ऊपरके सम विकारोंमें प्रत्यावर्तन करता है तो जिस विकारमें प्रत्यावर्तन होता है उससे विपरीत विकार अर्थात् कफका उलटा वात और वातका उलटा कफसे अग्निका सम्बन्ध कर देना चाहिये पर वातका सम्बन्ध करते समय उतनी ही देर रखना चाहिये जितनी देर पित्तका प्रत्यावर्तन बंद न हो । इसलिये प्रयोग-कर्त्ता रोगीका नाड़ीद्वारा निदान करता जाय और देखता जाय कि पित्तका प्रत्यावर्तन बंद हो गया है । बंद होते ही फौरन सम्बन्ध हटा देना चाहिये; क्योंकि उससे अधिक देर रखनेसे उपर्युक्त विकार (उत्पात) शीघ्र उत्पन्न हो जाया करते हैं । स्मरण रहे कि पित्तका प्रत्यावर्तन समाप्त होनेपर सुरभि मुद्राकी क्रियाकी अवधिमें पित्त सम रहता है, विकृत कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जल और पृथ्वी, एवं वायु और शून्य अपनी गति पकड़ लेते हैं । तब पित्त स्वयमेव जलके साथ

होनेसे अनुपात गति पकड़ लेता है। कफ और वातके विकारोंके परिणामस्वरूप जिन तत्त्वोंका विघटन या प्रत्यावर्तन हो गया है, वे सभी तत्त्व सुरभिमुद्राद्वारा विपरीत क्रियामें संलग्न हो जाते हैं, जैसे यदि वायु विघटित हो गयी है तो उसका प्रत्यावर्तन हो गया या जल यदि अभिवृद्ध हो गया है तो उसका घटन प्रारम्भ हो जायगा।

जबतक इस स्थितिमें विकृत तत्त्व समताको प्राप्त होते हैं, ऐसे रोग शान्त हो जाते हैं; किंतु विषम तत्त्वोंका देहमें अधिक देरतक अभ्यास निषिद्ध है। अवधि केवल पौन या एक घंटेकी है। इससे अधिक करनेसे देहमें तत्त्वपरिवर्तनके चक्रमें बाधा पड़ जाती है। करीब एक घंटेसे कम समयमें ही तत्त्वोंका प्रत्यावर्तन हो जाता है और दूसरे प्रधान तत्त्वकी बारी आ जाती है। सूक्ष्म तत्त्वोंके प्रवर्तनका इस क्रियापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि उनमें इतना वेग नहीं होता जितना किसी समयविशेषमें प्रधान तत्त्वका होता है। सूक्ष्म तत्त्व तो उस समय प्रधान तत्त्वसे प्रभावित रहते हैं और उनकी गति उस प्रधान तत्त्वके द्वारा संचालित होती है। जैसे अग्नितत्त्वके प्रधानत्वमें लगभग सभी अन्य तत्त्वोंकी गति तीव्र होती है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि सूक्ष्म तत्त्व अग्नितत्त्वके प्रधानत्वमें जल्दी चलना प्रारम्भ हो जाते हैं अथवा समयकी अवधि कम लेते हैं पर उनका वेग तीव्र हो जाता है। उनकी तीव्रताको अग्नितत्त्व क्षीण अवश्य करता है, पर अग्नितत्त्वका प्रभाव पाकर विपरीत परिणाम प्राप्त करते हैं, इधर अग्नि उन्हें क्षीण करता है और उधर वे तीव्रता प्राप्त करते हैं। यही संघर्ष मनुष्यके जीवनमें रात और दिनमें लगभग पाँच बार प्राप्त होता है। वैसे किस तत्त्वके प्रधानत्वमें कौन-सा सूक्ष्म तत्त्व कैसी गति प्राप्त करता है, यह आगेका विषय है जिसपर फिर कभी लिखा जायगा।

यह समझना बड़ी भूल होगी कि मेरे इस अंकनसे पाठक यह समझ लें कि सुरभिमुद्राका समस्त रहस्योद्घाटन हो गया। अनुभूति और प्रयोगसे आगे भी ये मुद्रा, पता नहीं क्या सूचना देती रहेंगी। उसे भी लिपिबद्ध करते रहनेका प्रयत्न किया जायगा, पर इससे क्रमभेदमें दोष अवश्य आयेगा। मैं तो क्रम-भेदकी परवा न कर केवल अनुभूति और प्रयोगमें लगकर जो-जो वाञ्छनीय होगा, उसे लिखता रहूँगा। क्रम-भेदके दोषको मिटाना भारतीय सिद्धहस्त आचार्योंका कार्य होगा, जिसके लिये मैं उनसे अभीसे ही क्षमा माँग लेता हूँ।

भेंट

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

आज इस क्षण-क्षणमें अधिकाधिक अन्धकाराच्छन्न हुए आते, अर्ध-रातके सन्नाटेमें, सबको झटक, मैं तेरे द्वारपर आ खड़ा हुआ हूँ।

मैं!—दीन, हीन, मलिन !!

× × ×

सुना है, तू सम्राटोंका सम्राट् है।

होगा!—पर भेंट दिये बिना तो तेरे यहाँ भी पहुँच नहीं! और भेंटके लिये मुझ तुच्छ नाकुछके पास धरा ही क्या है?

× × ×

हाँ! भली याद आयी। एक वस्तु है यदि तू स्वीकार कर ले! वह है चित्त-चाञ्चल्य!—जन्म-जन्मान्तरकी अर्जित-संचित—अकिञ्चनकी एकमात्र सम्पत्ति! समझा?

× × ×

भेंट देते मैं संकोचसे मरा जा रहा हूँ—यह भी क्या कहना होगा?—मेरे राजा!

स्वीकार-अस्वीकार, जो भी करना हो, शीघ्र कर, त्रिशंकु-दशामें तो न छोड़ मुझे कम-से-कम मेरे सर्वस्व!

पर निर्णय करते हुए इतना याद अवश्य रखना—जो भी, जैसा भी हूँ, तेरा, एकमात्र केवल तेरा ही हूँ।

आर्यजातिकी दिनचर्यामें चार विभाग

(लेखक—श्रीलक्ष्मीनारायणजी शास्त्री)

हिंदू-त्योहारके व्रत, उत्सव, जयन्ती तथा पर्वोंकी संक्षिप्त चर्चा

आर्योंके प्रत्येक घड़ी, दिन, तिथि, मास और वर्षोंके विभिन्न देवी-देवता अधिष्ठाता हैं। वे सब चेतनाधिष्ठित हैं। इसीलिये काल-निर्णयपर बहुत बड़े अनुसंधान हैं तथा कठोर प्रयासपूर्ण 'निर्णयसिन्धु' आदि विविध बृहत् ग्रन्थ लिखे गये हैं। अतएव भारतीय ज्योतिषशास्त्रकी समस्त साधना और सिद्धियोंके क्षेत्र कालपर ही निर्भर है। परंतु इस प्रस्तुत लेखका विषय केवल व्रत, उत्सव, जयन्ती और पर्वोंपर ही विचार करना है। हमारी जीवनभरकी सारी क्रियाओं एवं व्यवहारोंका लक्ष्य लौकिक सिद्धियोंकी प्राप्तिके साथ-साथ परमार्थसाधन और अध्यात्मकी ओर गतिशील बनना है। अतएव सर्वप्रथम व्रतोंके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति भोगोंकी दासतासे छूटनेका अभ्यास करे और संयम-नियमोंके अनुष्ठानद्वारा त्याग, तितिक्षा और तपकी ओर बढ़ता चले, जिससे देह, इन्द्रिय और मनकी शुद्धिको सिद्ध कर स्वस्थ, सुप्रसन्न एवं सफल होता हुआ आध्यात्मिक लाभ उठानेका अधिकार प्राप्त कर सके। इन व्रतोंसे इष्टसिद्धि और देवताके अभिमुख होकर मनुष्य दैवीगुण-सम्पन्न हो सकता है। ये व्रत हैं—रविवार-मंगलवारसे लेकर एकादशी-श्रीसत्यनारायण और वैदिक चान्द्रायण आदि सहस्रों। इनमेंसे यथारुचि आर्य नर-नारी एक-न-एक व्रत करते ही रहते हैं और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षमेंसे कोई एक या एकाधिक लक्ष्य रखते हैं। मास-माहात्म्योंमें प्रायः इनके विशद वर्णन मिलते हैं।

दूसरा अनुष्ठान है—सामूहिक उत्सव—दीपावलि, वसन्तोत्सव, होलिकोत्सव, श्रावणी और विजयादशमी आदि। ये भी अनेकों देवी-देवताओंकी पूजासे पूर्ण हैं। इससे जातिका प्रत्येक दल आमोद-प्रमोदके साथ अध्यात्मकी ओर प्रवृत्त हो उठता है। इन अवसरोंपर नयी-नयी भावनाओंके जाग्रत् होनेसे जाति सबल एवं श्रीसम्पन्न हो उठती है तथा परिवार एवं समाजके आबालवनितावृद्ध पारस्परिक सम्पर्कमें आकर अपने आपको अभिन्न अनुभव करते हैं। साथ ही सब लोग एक पूजा, एक विधि और एक उद्देश्य आदि एक-सी प्रवृत्तियोंमें अभिन्न दृष्टिगोचर होते हैं। सुतरां वर्ण-सम्प्रदायसे निर्विशेष सांस्कृतिक और सामूहिक एकताकी पराकाष्ठा भी इन महोत्सवोंका एक मुख्य माहात्म्य और देन है।

तीसरा अनुष्ठान है जयन्ती—

मत्स्यजयन्तीसे लेकर रामजयन्ती, कृष्णजयन्ती, बुद्धजयन्ती, शंकरजयन्ती आदि। सृष्टिकी स्थिति, रक्षा और पालनके लिये जगदीश्वर और इनकी विभूतियोंकी अवतीर्ण तिथियाँ इनमें सम्मिलित हैं। ये जयन्तियाँ भगवान्की सत्ताके प्रति अनन्त आशा और विश्वासको स्थिर कर जातिमें शक्ति, साहस और उत्साह भर देती हैं। अनन्त दुर्घटनाओंसे आर्यजातिको बचानेके लिये विभिन्न प्रकारके चरित्र और प्रकाश प्रदान करती हैं एवं क्रान्तिकारी इतिहासोंको स्मरण कराकर किंकर्तव्यविमूढ़ताका नाश कर जातिको सजीव, सप्राण तथा पुनः ऐश्वर्यस्थापनके लिये कर्तव्यनिष्ठ बना देती हैं। आजकल प्रायः सभी महापुरुषोंकी जयन्तियाँ मनायी जाने लगी हैं, यह शुभ लक्षण है।

मानवसमाजके लिये यह सबसे बड़ा सौभाग्य है कि मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशीके दिन गीताजयन्ती-महोत्सवका भी देशव्यापी प्रचार और प्रसार हो रहा है।

लोकप्रतिनिधि अर्जुनको सम्मुख रखकर समस्त वेदादि सत्-शास्त्रोंकी एकत्र समवेत ज्ञानराशि गीताके रूपमें स्वयं भगवान्के श्रीमुखसे आविर्भूत हुई। मानो गोपालने अपने जातिस्वभावके अनुसार मोहके भयानक रोगसे ग्रस्त प्रकम्पित अर्जुनको गीता-दुग्धामृत पिलाकर स्वस्थ कर दिया। अतः सत्-चित्-आनन्दस्वरूप भगवान्का साक्षात् मूर्तरूप गीता है। इनकी शरणागतिमें मानवसमाज जीवित और जाग्रत् रहकर अपने-आपको रक्षित, पालित और ऐश्वर्यसम्पन्न बना सकता है। गीता अनन्त तीर्थमयी त्रिवेणी है, जिसमें समस्त पाप-ताप और कलिमलोंका प्रक्षालन हो जाता है। भयानक भवसागरमें विचरण करनेवाले मानवके लिये अभेद्य, अच्छेद्य जहाज गीता है। किंकर्त्तव्यविमूढोंके लिये मूर्तिमान् सद्गुरु है। संसारके युद्धमय क्षेत्रमें योद्धाओंके लिये यह अभेद्य कवच है। मानवके मानस-जगत्के लिये गीता सनातन प्रकाश देनेवाला सूर्य है। नाना संसार-संताप-संतप्त मानवके लिये

षोडशकला-सम्पन्न शीतांशु चन्द्रमा है। संसारके दुर्गन्धमय वातावरणको विशुद्ध करनेके लिये गीता सदा प्रस्फुटित भारत-पङ्कज है। सुतरां प्रत्येक नर-नारी गीताको सदा साथ रखकर मनन-चिन्तनद्वारा पूर्णमनोरथ होते हैं। गीताका अध्ययन भौतिक जड जगत्‌को अध्यात्मपूर्ण बना देता है, अनात्मभावको नाशकर आत्मप्रतिष्ठा करता हुआ जगदीश्वरमें जोड़ देता है। नानात्वको मिटाकर एक ही अनादि अनन्त परब्रह्मकी अनुभूतिद्वारा मर्त्यको स्वर्ग बना देता है। अतएव पथ-भ्रान्तिसे बचने और परम शान्ति प्राप्त करनेके लिये गीताका अध्ययन और प्रचार-प्रसार नितान्त आवश्यक और कर्त्तव्य है।

चौथा अनुष्ठान है—सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, कुम्भ, वारुणी एवं प्रत्येक सूर्य-संक्रमण तथा अमावस-पूर्णिमा आदि। इन पर्वोंपर अनुष्ठित पूजा चन्द्र, सूर्य, बृहस्पति आदि लोक-नायकोंके प्रति हमारे सम्मानके प्रमाण हैं। लोकवादी आर्यों-की दृष्टिमें ये ग्रह नक्षत्रोंके रूपमें विचरनेवाले सर्वज्ञ और शक्तिमान् देवता हमारे सनातन सम्बन्धी हैं। ज्ञाताज्ञात प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न हमारे मानव-समाजसे इन लोकों और लोक-नायकोंका अखण्ड सम्बन्ध है। हमारे पूर्वज यहाँसे संचित पुण्योंके बलसे इन लोकोंके अधिनायक बने हुए हैं और पुण्योंके फल भोग रहे हैं। आर्योंमें क्षत्रियवंशके तो ये सनातन वंशधर हैं। सूर्यवंश, चन्द्रवंश, अग्निवंश एवं गोत्रप्रवर्त्तक वशिष्ठ आदि नामोंसे विख्यात होना इसका उज्ज्वल प्रमाण है।

पुराणोंकी दृष्टिमें तो ये हमारे परम कल्याणकारी, समस्त दुःखोंके मिटानेमें प्रयत्नशील तथा सुखोंकी प्राप्तिमें सहयोग भी देनेवाले हैं। देवासुर-संग्रामोंकी पौराणिक कथाओंमें बराबर परस्पर एक दूसरेका साथ देनेवाले हैं। राक्षसोंसे पीड़ित गौरूपा वसुन्धराके ये सनातन सहायक हैं और प्रजापति, शिव और विष्णुलोक तक जाकर यात्राको सफल बना देते हैं। यथासमय जीवोंके दुःखदलनके लिये श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें अवतीर्ण प्रभुको साथ देनेके लिये मनुष्यरूपमें ये भी भारतधरापर उतर आते हैं। इनकी सारी गतिविधि हमारे सुख-दुःखोंसे ओतप्रोत हैं। इनके नाम-मन्त्रोंके जप आदि अनुष्ठानद्वारा हम दुःखोंको मिटाकर सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं।

हम तो इन्हें अपने अनुरूप, परं च अमानव देवता मानते हैं, भले ही इनके भौतिक देह विज्ञानवादियोंकी दृष्टिमें अग्नि-जलादिके गोले भासते हों। सुतरां आर्योंका इन पर्वोंपर दान, पुण्य, जप आदि उत्सर्ग करके महोत्सव करना सार्थक अतएव कर्त्तव्य है और आर्यजातिका व्यावहारिकरूपमें आदान-प्रदान-द्वारा मानव-समाजका देवताओंसे सनातन-सम्बन्ध-परम्परा अक्षुण्ण रखना स्वधर्मनिष्ठाकी पराकाष्ठा है। अतएव समस्त आर्योंके कृत्योंके पूर्व ये पूजाके देव हैं। इसीलिये विवाहकालमें भी वर-वधू अरुन्धती-वशिष्ठ या ध्रुव अथवा सूर्यके सम्मुख खड़े होकर उपस्थान करते हैं। आर्योंकी श्राद्धक्रिया समाप्त होनेपर भी इनकी अन्तिम पूजा कर यजमान इनके आशीर्वादसे अपनेको सफल मानता और समझता है। अतएव हमें व्रत, उत्सव, जयन्तियाँ और पर्वोंको मनाकर व्यक्तिगत, समाजगत और जातिमें समस्त शक्तियोंको संचय करते हुए सर्वशक्तिमान् बनना चाहिये तथा परस्परमें अभिन्नता अनुभव करते हुए स्व-स्वरूपप्राप्तिरूप चरम लक्ष्य लाभ करना चाहिये।

अनन्यता

(लेखक—श्रीत्यागराज भारती)

मेरो मन अनत कहाँ ठिक पाये।
श्रीहरि ! हरि ! तव सुंदरता इन आँखोंमें छा जाये॥
कानोंमें तव मधुर कथामृत भर भर कर लहराये।
पावन नाम प्रभो ! मेरे मुँह मुखरित हो नित भाये॥
मेरी दृष्टि जहाँ भी जाये, तव दर्शन ही पाये।
मैं तव भक्त, यही मति मेरी निश्छल रति उपजाये॥
मेरी योग-तपस्याका फल तू ही बल आ जाये।
दिनमणिवंश-पयोधि-सुधाकर 'त्यागराज'*नित गाये॥

(रूपान्तरकार—पाण्डुरंग 'मुरली' एम्० ए०)

* त्याग।

स्वामी श्रीस्वरूपानन्दकी अखण्ड वाणी

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

साधना ही सिद्धिका सोपान है। विना साधना सिद्धि नहीं मिलती। साधनाके लिये बहुत बड़े त्यागकी आवश्यकता होती है। निवृत्ति-जीवनमें वह अधिक सुलभ होती है; क्योंकि अनेक प्रवृत्तियोंमें जहाँतक मन, वचन, काया लगी रहती है वहाँतक साधनाके उपयुक्त एकाग्रता प्राप्त नहीं हो सकती और विना एकाग्रताके साधना बलवती एवं इच्छित फलदात्री नहीं हो सकती। इसीलिये त्यागमय साधुजीवनको साधनाके लिये अधिक उपयुक्त माना गया है। गृहस्थ जीवनमें अनेकों जिम्मेवारियाँ होती हैं, अपने परिवारके भरण-पोषण और लोक-व्यवहार एवं सामाजिक नियमोंको सुव्यवस्थित संचालित करनेके लिये विविध प्रवृत्तियोंमें व्यस्त रहना पड़ता है। साधु-जीवनमें आवश्यकताएँ और बाहरी जिम्मेवारियाँ बहुत कम हो जाती हैं। इसलिये साधनामें पूरा समय और शक्ति लगायी जा सकती है। एक तरहसे साधुजीवन साधनामय ही होता है। लक्ष्यको स्थिर करके निरन्तर उस ओर अग्रसर होते रहना साधुजीवनमें ही अधिक सम्भव है।

भारतीय समाजमें साधुजीवनकी प्रतिष्ठा बहुत अच्छी है। आत्मोत्कर्ष एवं लोकसेवामें भारतीय साधुओंने अपने जीवनको पूर्णतया खपा दिया, जिसके फलस्वरूप आध्यात्मिक उपलब्धि सर्वोच्चरूपमें हो सकी और जनताके जीवनको भी बहुत अच्छे स्तरपर ऊँचा उठाया जा सका। नाना मत और सम्प्रदायोंमें लाखों संत-महात्मा आदर्शके रूपमें पूज्य बने और आज भी हजारों उल्लेखनीय संतपुरुष भारतके कोने-कोनेमें अपनी अनुभूतियोंसे जनताको प्रेरणा दे रहे हैं।

लाखों व्यक्तियोंमें सभी एक समान ऊँचे स्तरके नहीं हो सकते। अपनी-अपनी परिस्थिति एवं योग्यताके अनुसार ही मनुष्य विकास—प्रगति कर सकता है। इधर कुछ समयसे साधुजीवनमें शिथिलता आ गयी। अनेकों ढोंगी एवं विलासी व्यक्ति साधु-मण्डलीमें सम्मिलित हो गये। इसलिये जनताकी पूर्वकालीन श्रद्धापर आघात लगना स्वाभाविक ही है। आजके नवयुवकोंके लिये तो धर्म और साधु सर्वथा उपेक्षणीय बन गये हैं। यह स्थिति आध्यात्मिक गौरवके लिये प्रसिद्ध भारतके लिये अच्छी नहीं कही जा सकती। अतएव धार्मिक रूढ़ियों और साधुओंके कुत्सित जीवनमें क्रान्ति लाना आवश्यक है। वास्तविक धर्म और सच्चे साधुओंकी प्रतिष्ठा तो सर्वत्र एवं सार्वकालिक रहेगी ही।

भारतके अन्य प्रान्तोंके साधुओंकी अपेक्षा बंगाल, आसामके साधुओंका अपना वैशिष्ट्य है। स्वामी रामकृष्ण परमहंसके प्रभावने यहाँके साधुओंमें एक नयी क्रान्ति कर दी है। साधनाके साथ-साथ उनका जीवन सेवामय भी है—यह उल्लेखनीय है। साथ ही बंगालमें शिक्षाका प्रचार अच्छा होनेसे यहाँके साधुओंमें ज्ञानका प्रसार भी बहुत अच्छा है। भक्तिमार्ग तो बंगालका प्रधान साधना-मार्ग है ही, अतः ज्ञान, भक्ति और सेवा इस त्रिपुटीके सम्मेलनसे बंगाल-आसामके साधुओंका जीवन अपना वैशिष्ट्य रखने लगा है।

बंगाल-आसाममें अनेक जगहोंपर उपर्युक्त गुणत्रयसम्पन्न साधुओंके मठ और आश्रम हैं और उनके हजारों-लाखों अनुयायी पाये जाते हैं। उनके भक्तोंमेंसे भी कई-एक बहुत अच्छे साधक हैं, जो उन संत-महंतोंकी सेवा करनेके साथ-साथ अपने जीवनको उच्च स्तरपर ले जाते हुए उनकी वाणीके प्रसारमें भी प्रयत्नशील हैं।

ऐसे ही एक संतकी वाणीका परिचय करीब डेढ़ वर्ष पूर्व सिलचरमें मिला। इन संतपुरुषका नाम है स्वामी स्वरूपानन्द परमहंस। बंगाल-आसामके अतिरिक्त बनारसमें भी इनका 'अयाचक' नामक आश्रम है। वहींसे आपके वाणी और कार्योंका प्रचार 'प्रतिध्वनि' नामक एक मासिकपत्रिका-द्वारा हो रहा है। इसके विगत अग्रहायणके अङ्कमें स्वामी-जीकी वाणीके अस्सी उपदेशोंका संकलन प्रकाशित हुआ है। इस संकलनके कुछ चुने हुए वाक्योंका सार प्रस्तुत लेखमें उपस्थित किया जा रहा है। जिससे उनकी अनुभूतिप्रधान और प्रेरणादायक वाणीका कुछ परिचय पाठकोंको मिल जायगा।

(१) हमारा ऋण

व्यक्तिगत रूपसे मैं अनुभव करता हूँ कि मैं अपने पूर्वपुरुषोंका आपादमस्तक ऋणी हूँ। केशाग्रसे लगाकर पदनखाग्रतकके मेरे शरीरके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गके प्रत्येक अणु-परमाणु एक-न-एक महाभावको वहन कर रहे हैं। ये

सब महाभाव मुझे दूसरोंसे ही प्राप्त हुए हैं। एक महापुरुषने कहा 'झूठ बोलना पाप है।' दूसरेने कहा 'परनिन्दा पाप है।' तीसरेने 'पराये धनकी ओर दृष्टि देना पाप बताया' और चौथेने 'परानिष्टचिन्तन करना बुरा बतलाया।' इस तरह एक-एक व्यक्तिकी एक-एक बातने मेरे कर्म, वाक्य, चिन्तन और जीवनको गठित किया। मैं उन सब शिक्षा-दाताओंका ऋण कैसे भूल सकता हूँ ? साधारणतया रास्तेमें खड़े हुए एक दीन मजदूरके साथ भी एक मिनट भी बात की जाती है, उससे भी कोई-न-कोई अज्ञात बात प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार एक व्यक्तिके, जो कुछ भी नहीं बोलता है, चेहरेकी ओर स्थिर चित्तसे दो मिनट भी देखा जाय तो उसके आन्तरिक भावोंकी उपलब्धि होने लगती है। उससे सम्बन्धित अनेक ज्ञानकी किरणोंका प्रकाश हमारे हृदयमें प्रकट हो जाता है। हमारी इच्छा हो, न हो, पर दसों दिशाओंसे हर समय हमें कुछ-न-कुछ नयी जानकारी और अनुभूति मिलती ही रहती है। इस तरह हम जो कुछ बन पाते हैं, वह दूसरोंसे प्राप्त अनुभूतियोंके द्वारा ही और इस नाते हम असंख्य वस्तुओं और प्राणियोंके ऋणी हैं ही। जगत्की समस्त वस्तुएँ, घटनाएँ और प्राणीगण हमारे लिये एक Loan आफिस ही समझिये। जिनके द्वारा अनेक प्रकारकी बातें हमें प्रतिपल मिल रही हैं। जिस ओर भी जायँ, जहाँ कहीं भी रहें, हम निरन्तर दूसरोंसे कुछ-न-कुछ पाते ही रहते हैं। प्रत्येक श्वासोच्छ्वासके साथ हम यह ऋण ग्रहण कर रहे हैं और बढ़ा रहे हैं।

(२) ऋण-परिशोधके लिये सेवा

जब तुम समस्त विश्वके आकण्ठ ऋणी हो तो जगत्की सेवाके द्वारा इस ऋणका परिशोध करते रहना तुम्हारा कर्त्तव्य हो जाता है। निष्कपट और निरहंकार मनसे तुम्हें जगत्की सेवामें अपनी समग्र शक्ति, बुद्धि और प्रतिभाको नियोजित कर देना चाहिये। यदि तुम किसीकी सेवा नहीं करते, उपकार नहीं करते, केवल अपना ही स्वार्थ-साधन कर रहे हो तो तुम्हारा ऋण कभी भी नहीं उतरेगा। किसीकी सेवा करके तुम उसका उपकार नहीं कर रहे हो, ऋणमुक्त होनेके रूपमें अपना ही उपकार कर रहे हो, इस बातको कभी न भूलकर जगत्की सेवामें अपनेको समर्पित कर दो।

(३) पुरुषार्थ

सेवाका मार्ग विकट है। उसके लिये प्रचण्ड उत्साहकी आवश्यकता है। भय और कष्टोंसे हताश होनेसे काम नहीं चलेगा। अदृष्टके ऊपर निर्भर न रहकर अपनी शक्तिपर विश्वास रक्खो। अच्छे कार्य करनेसे भविष्य उज्ज्वल है ही। हमारी भावीके निर्माता हम स्वयं हैं। अपने पुरुषार्थसे हम उसे बदल सकते हैं, जैसा चाहें बना सकते हैं, मृत्युको अमृतमें रूपान्तरित कर सकते हैं।

(४) उपासना-प्रार्थना कामनारहित हो

जब ईश्वर हमारे सुख और दुःख सभी बातोंको जाननेवाले हैं, तब हमें उनके समक्ष 'धन-दौलत दो, दुःख दूर करो' इत्यादि प्रार्थनाएँ करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। हम जिस समय जो प्राप्त करनेके अधिकारी हैं, हमें वह निरन्तर मिल ही रहा है। हमें अपनी योग्यताको बढ़ाना चाहिये। जो चाहते हैं, उसके योग्य बन जानेपर वह स्वयं मिल जायगा, इसलिये हमें कामनारहित होकर उपासना करनी चाहिये। साधनाके बलपर ही हम जो चाहें प्राप्त कर सकेंगे।

(५) सेवककी सेवा

जिन व्यक्तियों और वस्तुओंको हम निम्न श्रेणीका मानते हैं, वे भी हमारी अनेक प्रकारकी सेवाएँ कर रही हैं। चमड़ेको हम अस्पृश्य मानते हैं और उसके द्वारा जूता बनानेवाले चमारको भी अस्पृश्य समझते हैं। पर वह चमड़ा हमारे पैरोंकी रक्षा करता है, स्वयं क्षत और आघात सहता है पर हमारे पैरोंको बचाता है। उस चमड़ेको पैरोंकी रक्षा करनेके उपयुक्त बनानेवाला वह चमार भी हमारी कितनी सेवा करता है। हमारे पैरके नापसे चमड़ेकी इस तरह सिलाई करता है कि जिससे उस चमड़ेकी सेवाकी क्षमता बढ़ जाती है। जो दूसरेकी सेवा करता है उसकी सेवा करना भी कम सौभाग्यकी बात नहीं है। महापुरुषगण समस्त पृथ्वीके लाखों प्राणियोंकी सेवा करते हैं, जो साधारण व्यक्तिके लिये सम्भव नहीं, पर वह साधारण व्यक्ति उस महामना पुरुषकी सेवा करके उनके सेवा-कार्यमें तो सहयोग दे ही सकता है। उसकी सेवाके द्वारा महापुरुषकी सेवाकी क्षमता बढ़ती है। वे जगत्का अधिक उपकार कर सकते हैं। इस तरह प्रत्यक्ष रूपमें जगत्की सेवा न करनेपर भी वह साधारणजन परोक्ष रूपमें जगत्के सेवककी सेवा करके जगत्की सेवाका ही भागीदार हो सकता है। अतः सेवानिरत व्यक्तिकी सेवा करो, उसे सहयोग दो। यह महान् लाभ है।

(६) युवक वही, जिसमें उत्साह भरा हो

उम्रमें युवा होनेपर भी जिसका मन उत्साहसे भरा न हो; कार्य करनेमें उत्साह न हो तो वह युवा नहीं कहा जा सकता । तरुण व्यक्ति विघ्नोंको पारकर उन्नति-पथपर अग्रसर होता है । वह दूसरोंकी उन्नति देखकर ईर्ष्या नहीं करता । दूसरोंके पथमें रोड़े नहीं अटकाता । जो मनुष्य स्वयं स्वाधीन होना चाहता है; वह दूसरोंको पराधीन करना नहीं चाहेगा । तुम स्वयं सुखी—उन्नत बनो; पर दूसरे वैसे नहीं बन सकें; ऐसी इच्छा और प्रयत्न अन्याय है; अनाचार है । अपने विचारोंका प्रचार करते हुए दूसरेके विचारोंको प्रकाशित न होने देना उचित नहीं है । किसीकी स्वाधीनता-स्वतन्त्रतामें बाधक न बने ।

(७) साधनाके शत्रु

साधनाकी प्राथमिक अवस्थाका शत्रु है—'आलस्य' और परिणतावस्थाका शत्रु है—'अहङ्कार' । आलस्यसे साधनामें प्रवृत्ति ही नहीं होती और अहङ्कार आगे बढ़नेमें रुकावट डालता है । अभिमानके द्वारा उच्च स्थितिसे पतन हो जाता है । वह कहाँ जाकर गिरेगा इसका कोई ठिकाना नहीं रहता ।

आलस्यके दमनका उपाय है उच्च आकाङ्क्षाको प्रबल करते रहना । इसी जीवनमें चरम उत्कर्ष और परम सत्य प्राप्त करना है; ऐसा दृढ़ संकल्प करनेसे आलस्य भाग जायगा; क्योंकि आलसी व्यक्तिके लिये उस संकल्पकी सिद्धि सम्भव नहीं । निरन्तर पुरुषार्थ करते रहनेसे ही वह उच्च आकाङ्क्षा पूर्ण हो सकेगी ।

अहङ्कारके दमनका उपाय है अपनेसे अधिक उन्नत व्यक्तियोंका ध्यान । साधारणतया हम जब अपनेमें दूसरोंकी अपेक्षा अधिक उल्लेखनीय विशेषता देखते हैं, तभी हमारेमें अहङ्कार आता है । जब हम अपनेसे अधिक गुणी व्यक्तियोंके जीवनपर दृष्टि डालेंगे; तभी हमारी अवनत स्थितिका सही भान होगा; अपने दोष और कमजोरियोंके सामने आते ही हमारा अभिमान चूर्ण हो जायगा । अभी हमें बहुत आगे बढ़ना है, उन महापुरुषोंकी तुलनामें हम बहुत ही नीचे हैं; अतः हमें उनके मार्गका अनुसरण कर अपनी कमजोरियोंको हटाना है । ऐसा अनुभव होगा ।

(८) नाम-जप

प्रतिदिन नियत समयपर की गयी जप-साधना अधिक लाभप्रद होती है । नाम-स्मरणके समय हमारा मन यह अनुभव करने लगे कि मैं जिनका नाम-स्मरण कर रहा हूँ, वे मेरे पास ही उपस्थित हैं । व्याकुल होकर आकुल प्राणसे उनके चरणोंमें समर्पित हो जाओ । नामके साथ रूपका अटूट सम्बन्ध है । रूपके भीतर नामका समावेश है और नामके भीतर रूपका । फिर भी नाम-स्मरणरूप जपका महत्त्व अधिक माना गया है ।

नाम-जपके समय मनको एकाग्र करनेके लिये भ्रूमध्यमें दृष्टि और चित्तको लगाओ । कानोंको नाम-जपकी ध्वनिमें एकाग्र कर दो, इसे बाहरकी और कोई ध्वनि सुनायी ही न दे । बुद्धिको लगाओ, जिसका नाम स्मरण कर रहे हो उसके अर्थचिन्तनमें । इससे संकल्प-विकल्प घटकर एकाग्रता प्राप्त होगी । तन्मयताके द्वारा ही रसानुभूति होती है ।

(९)

मनको हर समय भ्रूमध्यमें लगाये रक्खो । अन्य ओर जानेपर मनको पुनः टानकर फिर भ्रूमध्यमें स्थितकर अविराम इष्ट नामका जप करना होगा । इष्ट नामकी उज्ज्वल मूर्तिका, कल्पना नेत्रसे भ्रूमध्यमें दर्शन करनेकी चेष्टा करो । क्रमशः तुम देखोगे कि तुम कल्पना ही नहीं कर रहे हो । उस अनिर्वचनीय रूपका प्रकाश होगा । हतोत्साह मत होओ । अभ्यासके द्वारा मन वशमें आ जायेगा । तब भ्रूमध्यमें देदीप्यमान ब्रह्मज्योति प्रकट होगी । भूत, भविष्य, वर्तमान तुम्हारे लिये करामलकवत् भासित होंगे ।

(१०) सत्सङ्ग

वर्तमानयुगके ब्रह्मचर्यको स्मरण रखना होगा । एक ओरसे भगवान्‌के साथ योग रखना होगा, दूसरी ओर भगवान्‌के द्वारा सृष्ट जीव-जगत्‌के साथ सेव्य-सेवक सम्बन्ध अटूटभावसे रखना होगा । भगवान्‌की पूजाके साथ पूजकको भगवान्‌के जीवोंको नहीं भूलना चाहिये । उनके दुःखोंको दूर करनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये ।

परमात्मपरायणताका लक्षण है अपने सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियोंको परमात्माकी ओर आकर्षित किया जाय । सत्संग ही भक्तिमार्गका सबसे बड़ा पाथेय है । सत्पुरुषोंकी कृपासे परम मङ्गल होता है ।

(११) ममताका विस्तार करो

जो माया-ममता आज आपकी एक व्यक्तिके साथ

बाँध रही है, उस ममताको विस्तार करते जाइये । जब वह सब जीवोंके साथ फैल जायगी, तब वह बन्धन न होकर मुक्तिरूप हो जायगी ।

मैं केवल तुम्हारी ही मङ्गल कामना नहीं करता, तुम्हारे पड़ोसियोंकी भी सर्वाङ्गीण कुशलकामना आकुल प्राणसे करता हूँ । जिसके पड़ोसी सुखी नहीं, उसका सुख अत्यन्त क्षणस्थायी और दुर्बल है ।

तुम दुःख और सुखमें, सम्पद् और विपद्में, जय और पराजयमें, लाभ और हानिमें सदा सब अवस्थाओंमें अपनेको मनुष्यरूपमें परिचय देनेमें समर्थ होओ ।

(१२)

भावके लिये ही भाषा है। भाषाके लिये भाव नहीं । किसी भावको चाहे किसी भी भाषामें व्यक्त किया जाय, वहाँ भाषाकी प्रधानता नहीं, भावकी ही प्रधानता है । भाव अच्छा होना चाहिये । भाव सुन्दर होनेसे निकृष्ट भाषा भी उत्कृष्ट बन जाती है । ग्रामीण भाषामें अनुभूतिपूर्ण बातें कही जानेपर वे मन्त्रसे भी अधिक कार्यकारी होती हैं ।

मनुष्य यदि अकृतज्ञ नहीं होता तो अधिकांश संसारमें जो अशान्तिकी ज्वाला धधक रही है, वह नहीं पायी जाती; किंतु अहंमें प्रमत्त मनुष्यके लिये कृतज्ञताकी शिक्षा कौन दे ।

प्रशंसा, समर्थन, उत्साह, सहानुभूति, समवेदना आदि दूसरोंसे प्राप्त करनेकी आशा न कर तुम्हें अपने कर्तव्यमें ही आत्मप्रसादरूप संतोषका अनुभव करना चाहिये । यदि मैंने अपने कर्तव्यका पालन किया और दूसरोंने प्रशंसा आदि नहीं की तो उसकी इच्छा मत करो । अनासक्त चित्तसे कर्तव्य पालन करते जाओ ।

देशका नामकरण

(लेखक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

अपने देशका नामकरण (भारतवर्ष) कैसे हुआ । वस्तुतः इसमें तनिक भी विवादका अवकाश नहीं है । स्वायम्भुव मनुसे ही मानवी सृष्टि प्रारम्भ हुई—

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा । जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा ॥

इनके ज्येष्ठ पुत्र थे प्रियव्रत । उन्होंने रातमें भी प्रकाश रखनेकी इच्छासे ज्योतिर्मय रथद्वारा सात बार वसुधा-तलकी परिक्रमा की । इससे जो परिखाएँ बनीं, वे ही सप्तसिन्धु हुए । फिर उनके अन्तवर्ती क्षेत्र सात महाद्वीप हुए । ये क्रमसे पूर्व-पूर्वके द्विगुणित परिमाणके हैं । ये जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक तथा पुष्कर नामसे प्रसिद्ध हैं तथा क्रमशः क्षारोद, इक्षुरस आदिसे घिरे हैं । परिमाणको देखते तथा क्षार समुद्रसे ही आवेष्टित होनेके कारण आजका पूर्ण भूगोल जम्बूद्वीप ही है । प्रियव्रतके दस[1] पुत्रोंमेंसे कवि, सवन और महावीर—इन तीनके विरक्त हो जानेके कारण शेष सात इन सात द्वीपोंके अधिपति हुए । इनमेंसे आग्नीध्र जम्बूद्वीपके, इध्मजिह्व प्लक्षके, यज्ञबाहु शाल्मलिद्वीपके, हिरण्यरेता कुशद्वीपके, घृतपृष्ठ क्रौञ्चद्वीपके, मेधातिथि शाकद्वीपके और वीतिहोत्र पुष्करद्वीपके अधिपति हुए । (देखिये देवीभागवत ८ । ४ । १-२८; श्रीमद्भा० ५ । १ । ३३; मार्कण्डेयपुराण ५३ । १५-१९; वायुपुराण ३३ । ३-७; वाराहपुराण ७४ ; कूर्मपुराण अ० ८, अ० ४० । ३०-४०; शिवपुराण, ज्ञानसंहिता ४७, स्कन्दपुराण माहेश्वरखण्ड, कुमारिकाखण्ड अ० ३१)

जम्बूद्वीपाधिपति आग्नीध्रके नौ पुत्र हुए। ये थे नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व तथा केतुमाल । सम विभागके लिये जम्बू द्वीपको नौ भागोंमें बाँट दिया गया और इनके नामपर ही तत्तद्विभागोंके नामकरण हुए—

'आत्मतुल्यनामानि यथाभागं जम्बुद्वीपवर्षाणि बुभुजुः ।'

(श्रीमद्भा० ५ । २ । २१, मार्कण्डेयपुराण ५३ । ३१-३५, वायुपुराण ३३ । ब्रह्माण्ड, कूर्मपुराण आदिके उपर्युक्त स्थल)

आठ वर्षोंके नाम तो किंपुरुषवर्ष, हरिवर्ष आदि ही पड़े, किंतु ज्येष्ठ पुत्रका भाग 'नाभि' से अजनाभ हुआ । नाभिके एक ही पुत्र ऋषभदेव थे, जो जैनधर्मके आदि तीर्थंकर माने जाते हैं । ऋषभदेवके एक सौ पुत्र हुए, जिनमें गुणोंमें श्रेष्ठ तथा ज्येष्ठ थे भरत । उनकी अत्यन्त लोकप्रियता तथा सद्गुणशालिताके कारण 'अजनाभवर्ष' से 'भारतवर्ष' चल पड़ा । इस सम्बन्धमें निम्न प्रमाण हैं ।

'अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति ।'

(श्रीमद्भा० [illegible] । ३)

---

[1] प्रियव्रतकी तीन स्त्रियाँ थीं । ये दस पुत्र विश्वकर्माकी पुत्री बर्हिष्मती नामकी स्त्रीसे थे ।

'भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं
वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ।'
(श्रीमद्भा० ५ । ४ । ९)

'तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥'
(श्रीमद्भा० ११ । २ । १७)

ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ।
(विष्णुपुराण २ । १ । २८;३२)

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
तस्मात् तद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।'
(वायुपुराण ३३ । ५२, ब्रह्माण्डपुराण २ । १४ । ६२)

ऋषभो मेरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत् ॥
(अग्निपुराण १०७ । ११-१२)

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः ।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ।
(मार्कण्डेयपुराण ५३ । ३८-४०)

नाभेः पुत्रात्तु ऋषभाद् भरतो चाभवत् ततः ।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥
(नारसिंहपुराण ३०)

आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठ भरतो नाम भूपतिः ।
आर्षभो यस्य नाम्नेदं भारतं खण्डमुच्यते ॥
(बृहन्नारदीयपुराण पूर्वभाग ४८ । ५)

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
भरताय यतः पित्रा दत्ता प्रातिष्ठता वनम् ।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ।
(कूर्मपुराण, ब्राह्मीसंहिता पूर्व० ४० । ४१) इत्यादि

दुष्यन्तपुत्र भरतके नामपर देशका नामकरण भारत हुआ, यह पाश्चात्त्य अनुसंधान है। दुष्यन्तपुत्र भरत दूसरे ६ मन्वन्तर ४२६ दिव्य युगोंके बाद हुए। इसके अनन्त वर्ष पूर्व ही देशका नाम 'भारत' हो चुका था। हाँ, उनके नामपर क्षत्रियोंकी एक शाखा भरतवंशी अवश्य ख्यात हुई, जिससे अर्जुन आदिको 'भारत' कहा गया है और यह वायुपुराणके तथा महाभारतके—

'......येनेदं भारतं कुलम् ।
अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः ॥
(आदि० ७४ । १३१)

—से स्पष्ट है। 'भारताः' शब्द बहुवचन है, अतएव बहुतसे मनुष्योंका वाचक है। कुल तो स्पष्ट है ही। अभिज्ञानशाकुन्तल या अन्य ग्रन्थमें भी शकुन्तलापुत्रपर देशका नामकरण होनेकी बात नहीं आयी। अतएव उपर्युक्त मत सर्वथा निर्विवाद है।

भूल

(लेखक—श्रीव्रजलालरामजी चंदा राणा)

शहरमें एक बड़ी फर्मके मालिककी दूकानपर एक साधारण ग्रामीण व्यापारी आया। दूकानके मालिकने उसे गाँवसे सात आठ सेर असली घी भेज देनेको कहा और हाथपेटी खोलकर थैलीमेंसे दस-दस रुपयेके चार नोट देते हुए फिर कहा कि—'ये लो चालीस रुपये; कम-ज्यादा लगेगा तो फिर देख लिया जायगा।' वह भाई बिना ही गिने नोटोंको जेबमें रखकर चला गया।

लगभग बीस मिनट बाद उसने लौटकर दूकानके मालिकसे कहा—'बाबूजी! दस रुपये कम हैं, ये तीस रुपये हैं। यहाँ मैंने नोट गिने नहीं, बाजारमें जरूरत पड़नेपर गिने तो दस रुपये कम हुए, आप जल्दीमें भूल गये।'

दूकानमालिकने चश्मेके अंदरसे ऊपरकी ओर देखा तथा रोष एवं ऊबसे भरे शब्दोंमें कहा—'अरे भाई! तुम्हारी भूल हुई होगी। कहीं नोट गिर पड़ा होगा। मेरे हाथसे शामतक हजारों रुपये आते-जाते हैं, कभी गिनतीमें भूल नहीं होती।'

उसने कहा—'बाबूजी! भूल तो हरेकसे होती है। गिनकर देख लीजिये न।' यों कहकर उसने नोटवाला हाथ दूकानमालिकके सामने फैलाया।

दूकान-मालिकका मिजाज काबूसे बाहर हो गया। उसने ग्रामीण व्यापारी भाईको नीचे उतारते हुए कहा—'अब गिनकर क्या करूँ? अब तो तीस ही रुपये होंगे। मुझे बनाकर दस रुपये ऐंठना चाहते हो, यह नहीं होगा। चाहिये तो माँगकर ले जाओ।'

क्या सचमुच बाबूजी आपसे भूल नहीं होती? यों कहकर उसने स्वयं ही नोटोंके बीचसे तह किया हुआ सौ रुपयेका एक नोट निकालकर दूकान-मालिकको देते हुए कहा—'लीजिये बाबूजी, आपकी भूल.........'

दूकान-मालिक क्या बोलता? देखता रह गया।

—'अखण्ड आनन्द'

'मन नहीं लगता' क्यों ?

(लेखक--श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

'भगवत्-भक्तिमें मन नहीं लगता'—यह अधिकांश साधकोंकी शिकायत है। यह अनुभव असत्य हो—ऐसी बात नहीं है। जिस समय भी हम कभी संध्या-उपासना-भजन करने बैठते हैं, उस समय मनकी चञ्चलता प्रतिक्षण बाधा डालती है। अर्जुन-जैसा शिष्य, साधक और भगवान्का प्रिय मनकी इस अस्थिरतासे बड़ा दुखी था। उसके सामने भी यह समस्या थी। इसीलिये गीतामें उसने भी यही प्रश्न किया—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात् श्रीकृष्ण ! मन बड़ा चञ्चल, बलवान्, मथ डालनेवाला और मजबूत है। ऐसे मनको वायुके बाँधनेके समान वशमें करना कठिन है।

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

—अभ्यास और वैराग्यके द्वारा मनको संयमित किया जा सकता है।

अभ्यास और वैराग्यका स्वरूप

योगदर्शनमें भी मनको संयमित करनेके लिये अभ्यास और वैराग्यको ही साधनरूपसे कहा गया है। पर इन दोनों साधनोंका प्रयोग करनेसे पूर्व मनका स्वरूप और लक्षण जानना आवश्यक है, क्योंकि जबतक रोगका निदान और लक्षण पता न हो, तबतक चिकित्सा नहीं हो सकती। न्यायदर्शनमें मनका लक्षण किया गया है—

'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'

एक समयमें एक ही प्रकारके ज्ञानको प्राप्त कर सकना—यही मनका स्वरूप है। अब यह स्पष्ट हो गया कि यदि हम मनको काबूमें करना चाहते हैं तो उससे एक समयमें एक ही काम लेनेकी आदत डालें। इसीका नाम अभ्यास है। योगदर्शनमें अभ्यासका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।' (१। ३२)

जिस समय मन इधर-उधर भटकने लगे, तभी उसे किसी एक वस्तुपर—जो हमें अत्यन्त प्रिय और आह्लादजनक हो—टिकानेकी कोशिश करना चाहिये। प्रारम्भमें यह वस्तु भले ही कोई भौतिक और स्थूल हो; उसीपर अपने चित्तकी वृत्तियोंको केन्द्रित करना चाहिये। धीमे-धीमे और दैनिक अभ्याससे मनको भौतिकसे अभौतिक और स्थूलसे सूक्ष्म तत्त्वोंपर लगाना चाहिये।

इसके लिये वैराग्यकी भावनाको धारण और प्रबुद्ध करना चाहिये। योगदर्शनमें वैराग्यका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥'(१।१५)

ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा हम जिन विषयोंको जानते अथवा अनुभव करते हैं, उनमें किसी प्रकार भी तृष्णाकी भावनाका न होना और उनपर नियन्त्रण करना—इसीका नाम वैराग्य है। योगदर्शनमें कहा गया है कि इन उपायोंका अवलम्बन करनेमें तीन साधनोंका प्रयोग करना चाहिये—

'सा तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। (१।१४)

भक्ति, उपासना और साधनाके अभ्यासकी भूमिको दृढ़ करनेके लिये जिन साधनोंका अवलम्बन किया जाय, वे लंबे-से-लंबे समयतक चलनेवाले हों, उनमें कभी नागा अथवा अवकाश न हो—लगातार चलनेवाले हों और तीसरी बात यह कि उपासक और साधककी उनमें सच्ची श्रद्धा हो। श्रद्धाकी भावना सर्वथा अनुपेक्षणीय है। श्रद्धासे साधकको अपनी साधनामें बल मिलता है, हृदयमें उत्साह आता है और आत्मामें आनन्दका अनुभव होता है। श्रद्धा होनेपर साधना अन्तर्मनसे होती है, समयको पूरा नहीं किया जाता या बला नहीं टाली जाती।

नौ अन्तराय

मनकी चञ्चलताको बढ़ानेवाले कुछ अन्य भी कारण हैं, जिन्हें योगदर्शनमें 'अन्तराय' नामसे कहा गया है। इनकी संख्या नौ है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥(१।३०)

१-व्याधि—शारीरिक रोग।

२-स्त्यान—साधनासे लाभ देखकर भी उस मार्गका अवलम्बन न कर सकना।

३-संशय—मनका सन्देहोंसे आवृत रहना ।

४-प्रमाद—लापरवाही

५-आलस्य—सुस्ती

६-अविरति—साधनोंमें प्रीति न करना ।

७-भ्रान्तिदर्शन—प्रतिकूल ज्ञान प्राप्त करना।

८-अलब्धभूमिकत्व—किसी लक्ष्य तक पहुँच न सकना ।

९-अनवस्थितचित्तत्व—किसी भी केन्द्रपर चित्तका न टिक सकना और उसका ढल जाना

चार सहायक अन्तराय

इन नौ अन्तरायोंके साथ चार अन्तराय और हैं, जिन्हें सहायक अन्तराय कहा गया है—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥

१-दुःख—मानसिक क्लेश ।

२-दौर्मनस्य—किसी इच्छाके पूरा न होनेपर चित्तमें क्षोभका होना ।

३-अङ्गमेजयत्व—अङ्गोंका हिलना-डुलना।

४-श्वासप्रश्वास—प्राणकी गतिका अव्यवस्थित रूपसे चलना ।

प्रतिपक्षभावनम्

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, अज्ञान, ईर्ष्या, द्वेष, राग आदिकी वृत्तियाँ चञ्चल मनमें उसी प्रकार लगातार उठती रहती हैं, जिस प्रकार सरोवरमें पत्थर फेंकनेसे लहरोंका चक्र चलता रहता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जब हम ध्यान करने बैठते हैं, तब इनमेंसे कोई एक वृत्ति जागकर बार-बार चित्तमें चाञ्चल्य पैदा करती है। हम उसे जितना ही दबाते हैं, वह उतनी ही अन्य मार्गोंसे भर आती है । इस प्रकारकी अवस्था होनेपर साधक घबरा जाता है और अपनेको पराजित और परेशान अनुभव करता है । उस समय चित्तको संयमित करनेका क्या उपाय है ? साधकको कभी निराश नहीं होना चाहिये, कभी अपनेको पराजित अनुभव नहीं करना चाहिये । इस प्रकारकी भावनासे तो कभी भी मनपर नियन्त्रण नहीं हो सकेगा ।

इस ह्रासके निराकरणका उपाय क्या है ! योगदर्शनमें इसके लिये 'प्रतिपक्षभावनम्'—विपरीत चिन्तनका मार्ग बताया गया है। आजके मनोवैज्ञानिक इसे 'उलटा सोचना' (Opposite thinking) कहते हैं । यदि कामकी वृत्ति मनपर अधिकार किये बैठी है तो ऐसे किसी महापुरुषका चिन्तन करो, जिसने कामपर सर्वथा विजय प्राप्त की हो । क्रोधकी वृत्तिके भड़कनेपर किसी शान्त और अक्रोधी क्षमाशील महापुरुषका ध्यान करना चाहिये । इस प्रकारके विपरीत चिन्तनसे चित्तकी चञ्चलता अवश्य ही दूर होगी और मन एकाग्र होगा । यह अनुभवसिद्ध और कई साधकोंद्वारा व्यवहृत उपाय है ।

पञ्चदशीके चार उपाय

वेदान्तकी प्रसिद्ध पुस्तक पञ्चदशीमें मनोनिग्रहके सम्बन्धमें बड़े सुन्दर ढंगसे विचार किया गया है । द्वैतविवेक-प्रकरणमें निम्नाङ्कित श्लोक आता है, जिसमें चार उपाय बताये गये हैं—

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकान्तवासिना ।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विधीयते ॥

आत्मज्ञानके मार्गको दोषरहित बुद्धिसे, एकान्त निवास करनेसे और अधिक-से-अधिक समय तक प्रणव 'ओंकार'का जप करनेसे मनपर संयम हो जाता है ।

इसी पञ्चदशीमें आगे कहा गया है—

जिते तस्मिन् वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत् ।
एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम् ॥

आचार्य वसिष्ठने श्रीरामको उपदेश देते हुए यह बताया कि इस प्रकार जब चित्त चञ्चलताप्रेरक वृत्तियोंसे रहित हो जाता है, तब मन गूँगेके समान शान्त हो जाता है और आत्मा आनन्दका अनुभव करता है ।

अन्न और मन

मनकी चञ्चलतामें अन्नका बड़ा प्रभाव होता है । हमारे शरीरमें पाँच कोष माने गये हैं (१) अन्नमय कोष, (२) मनोमय कोष, (३) प्राणमय कोष, (४) विज्ञानमय कोष और (५) आनन्दमय कोष । अन्नका प्रभाव मनपर तत्काल पड़ता है । इसलिये यदि हम चञ्चल और उद्धत मनकी भाग-दौड़से बचना चाहते हैं तो हमें सबसे पहले अपने भोजनपर नियन्त्रण और संयम करना चाहिये । इसीलिये गाँधीजी प्रायः पाँच यमोंके साथ एक छठा यम 'रसनानिग्रह' जोड़ा करते थे और कहा करते थे कि बिना रसना-निग्रहके ब्रह्मचर्यव्रतका पालन नहीं हो सकता । साधकका भोजन जहाँ शुद्ध सात्त्विक

और संयमित हो, वहाँ साथ ही स्वल्प भी हो। लट्टू बैलकी तरह थालियाँ भर-भरकर तले हुए पक्वान्न और मिर्च-मसालोंसे युक्त गरिष्ठ, उत्तेजक और मद्य-मांसादिका सेवन करनेवाले चटोरे सात जन्ममें भी साधनाके मार्गके अधिकारी नहीं बन सकते। इसीलिये शास्त्रकारोंने कहा है कि 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'—आहारकी शुद्धिसे मनकी शुद्धि प्राप्त होती है।

आजके तथाकथित सामाजिक जीवनमें आहारकी शुद्धि, सात्त्विकता और स्वल्पतापर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। इन नियमोंका पालन करनेवालोंको ढोंगी, बेवकूफ, असभ्य और असामाजिक समझा जाता है। साधकको 'दुनिया क्या कहती है ?' इसकी चिन्ता न करते हुए पूर्ण निष्ठा और सतत भावसे अपने साधनमार्गपर आरूढ़ रहना चाहिये। प्रभु-अनुकम्पासे उसे अवश्य सफलता मिलेगी।

योगिनीकी यात्रा

(लेखक—श्रीरघुनन्दनजी पालीवाल)

बहुत दिनोंतक धूनी रमाते और अपने इष्ट-देवकी आराधना करते योगिनी अकुला उठी। प्रत्येक दिवस चित्तको एकाग्रकर आसन लगाकर बैठती—घंटों अपनी दुःख-कहानी बखानती, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी करुणगिरा प्राणनाथके कानोंतक नहीं पहुँची, उसके प्रेमकी अग्निसे उनका हृदय नहीं पसीजा।

योगिनी उठ खड़ी हुई। न यह पता कि कहाँ जाना है, न यह सुधि कि मार्गमें किन-किन वस्तुओंकी आवश्यकता होगी। तनपर एक भगवा मोटी धोती, जिसके एक कोनेमें थोड़े-से फूल बँधे हुए, हाथमें जलका भरा हुआ लोटा! सूर्योदयसे चार घड़ी पूर्व अपनी कुटीकी सब वस्तुओंको उसी प्रकार छोड़ नंगे पाँव वह चल पड़ी। पहर भर दिन चढ़ते-चढ़ते बहुत दूर पहुँच गयी। जब एक गाँवके पास पहुँची, तब एक मनुष्यने, जो सामनेसे जा रहा था, झुककर प्रणाम किया और पूछा—

माईजी! आज कहाँ जानेका विचार है ?

योगिनी—भाई! मैं प्राणनाथके मन्दिरमें फूल और जल चढ़ाने जा रही हूँ।

मनुष्य—यह किस स्थानका पवित्र जल है ?

योगिनी—चक्षु-ग्रामके पास प्रेमाश्रु-सरोवर है, यह जल उसीका है।

मनुष्य—और ये सुगन्धमय पुष्प ?

योगिनी—हृदय-ग्रामके पास एक बड़ा प्राचीन वृक्ष है, उसे प्रेम-पादप कहते हैं; ये उसीके कुछ मधुरगन्ध पुष्प हैं।

मनुष्य—और माई! आपके उन प्राणनाथका मन्दिर कहाँ है ? मेरा सविनय निवेदन है कि आप मुझे भी अपने साथ ले चलें।

योगिनी—मुझे स्वयं पता नहीं वह मन्दिर कहाँ है। इतना अवश्य सुना है कि उसका रास्ता इतना कठिन और भयंकर है कि कोई पुरुष वहाँ नहीं जा सकता।

मनुष्य—अच्छा माई! यहींसे तुम्हारे लिये प्रार्थना करूँगा।

योगिनी आगे चल पड़ी। रास्ता एक घने जंगलमें चला गया था, थोड़ी दूर जाकर एक संकुचित पगडंडी ही रह गयी। दोनों ओर काँटोंकी बड़ी-बड़ी झाड़ियाँ थीं, जिनके काँटे टूट-टूटकर राहमें बिखर गये थे। आगे चलकर मार्गमें भी छोटी-छोटी झाड़ियाँ आने लगी। योगिनी बराबर चली जा रही थी। काँटे पद-पदपर उसके पाँवमें चुभे जाते थे। जब पीड़ाके कारण चला न जाता, तब योगिनी बैठ जाती और जितने काँटे निकाल सकती, निकाल देती और फिर आगे चल

पड़ती थी। रात-दिन इसी प्रकार चलती रही। पाँव छिदकर चलनी हो गये, प्रत्येक पदमें भूमिपर रक्तकी छाप लगने लगी। काँटे आप ही लगने और निकलने लगे। योगिनी अपनी धुनकी पक्की थी। उसको प्राणनाथ-के मन्दिरमें जाना था। कई दिन-रात इसी प्रकार चलती रही। खानेके नाम एक खील भी मुँहमें नहीं गयी। प्यास बुझानेके हेतु एक जलबिंदु भी मुखमें नहीं पड़ा। केवल एक आशा-लताके सहारे बेचारी काँटोंसे छिदे हुए पैरोंको उठाये आगे बढ़ी जा रही थी। प्रकृति देवी-का ऋणी कबतक चल सकता है? प्यससे व्याकुल हो उठी! पैर उठाना असम्भव हो गया। पगडंडीके एक किनारे गिर पड़ी और प्रेम-पीड़ित हृदयको किसी प्रकार सँभालकर मृत्युकी राह देखने लगी।

मृत्यु न आयी! बाट देखनेपर वह आया ही कब करती है? वह तो उन्हींका पल्ला पकड़ती है जो उससे दूर भागते हैं। हाँ! आया। कौन है? सिरपर पानीका घड़ा रक्खे? एक पुरुष! योगिनीने उसे देखा और अपनी रही-सही चेतनाको सँभालकर उससे थोड़े-से जलके लिये प्रार्थना की। उस आदमीने पूछा—तू कौन है? इस निर्जन स्थानमें अकेली किस लिये आयी है?

योगिनी—भाई! मैं यात्री हूँ। प्राणनाथके मन्दिर-को जा रही हूँ। प्याससे विकल हूँ, पैर नहीं उठता। यदि थोड़ा-सा जल दोगे तो तुम्हारा महान् कल्याण होगा।

पुरुष—तुम्हारे लोटेमें तो जल भरा है। उसमेंसे थोड़ा-सा क्यों नहीं पी लेती?

योगिनी—वह जल तो मुझे मन्दिरमें चढ़ाना है। उसको अपने प्राण बचानेके लिये भी पीना महापाप है।

पुरुष—अरी पगली! इन बातोंमें क्या रक्खा है? और कहींसे लोटा भर लेना, प्राणनाथ क्या देखने आते हैं! यह जल और फल मुझे दे दे, मैं तुझे पानी पीने-को दे दूँगा।

योगिनीके हृदयमें इस पुरुषकी ओरसे एक प्रकारकी घृणा उत्पन्न हो गयी। वह चुप हो गयी। योगिनीको चुप देखकर वह पुरुष बोला—'देख, मेरा कहना मान, नहीं तो मर जायगी।' योगिनी—'ईश्वर तुम्हारा भला करे, तुम अपना रास्ता लो। मुझे मर जाना स्वीकार है।' निर्मम पुरुष चला गया। योगिनीने आँखें बंद कर लीं और मृत्युकी प्रतीक्षा करने लगी। आकाशमें एक छोटा-सा बादलका टुकड़ा आया। उसका हृदय दयाके अमृतसे भरा था। प्राणनाथके यात्रीके साथ एक सांसारिक पुरुषका यह क्रूर बर्ताव देख उसका हृदय फट पड़ा, अमृत-वर्षा होने लगी। योगिनी फिर सजीव हो गयी और ईश्वरको धन्यवाद देती एवं प्रेमकी माला जपती हुई आगे बढ़ी। पाँच-छः दिन चलनेके पश्चात् वह जंगलके दूसरे किनारेपर पहुँच गयी। समझी थी कि जंगल समाप्त होनेपर मन्दिर दिखायी पड़ेगा, किंतु यहाँ उसका कोई चिह्न भी नहीं था। काँटेदार वन समाप्त हो गया, किंतु उसकी आशा-लतामें कली अङ्कुरित न हुई। रास्ता एक बड़े निर्जन तरुहीन रेतीले मैदानमें चला गया। योगिनी उसीपर हो ली। चारों ओर रेत-ही-रेत थी; धूप ऐसी कड़ाकेकी थी कि भूमि अंगारेके समान तप रही थी। छायाका कहीं पता नहीं था। हाँ! यदि थोड़ी-सी कहीं थी तो रेतीले टीलोंकी जड़में। चर और अचर दोनों ही नहीं थे। योगिनी चली जा रही थी। तलवेके छाले पग-पगपर फूटने लगे। छालोंका पानी निकलकर जलती हुई रेतको ठंडा कर देता था। इन छालोंके पड़ने और फूटनेमें योगिनीको यही एक सुख था। कई दिन-रात इसी प्रकार चलते-चलते भूख और प्याससे आतुर होकर वह एक दिन दोपहरके समय एक रेतके टीलेकी आड़में बैठ गयी। थोड़ी देर भी विश्राम न कर पायी थी कि पाँच लंबे-चौड़े मनुष्योंने, जिनके हाथोंमें बड़ी-बड़ी भालेदार लाठियाँ थीं, आकर घेर लिया। आपसमें कहने लगे—'देखो यह स्त्री बिना कर दिये ही हमारे देशमें चली आयी।' योगिनी भौंचक्की-सी रह गयी।

एक मनुष्य—'क्यों री ! तूने कर क्यों नहीं दिया ?'

योगिनी—भाई ! मैं न कर जानती हूँ, न तुम्हें । तुम मुझ दुखियाके पीछे क्यों पड़े हो ? दूसरा मनुष्य—हम यमके दूत हैं । यह देश हमारा है । किसी स्त्रीको कर दिये बिना इस देशमें आनेकी आज्ञा नहीं है ।

योगिनी—भाई ! मेरे पास है ही क्या जो कर मैं दे दूँ ? हृदय भी अपना नहीं है, केवल एक दुःख-रञ्जित और अश्रुसिञ्चित शरीर है, इसे तुम ले लो । तीसरा मनुष्य—'और यह जल और फूल ?' योगिनी—'ये तो प्राणनाथके मन्दिरमें चढ़ानेके लिये हैं । चौथा मनुष्य—'इन्हें करमें क्यों नहीं दे देती ?' योगिनी—'ऐसा कदापि नहीं हो सकता ।' पाँचवाँ मनुष्य—'तो हम तुझे यमराजके दरबारमें ले चलेंगे ।' योगिनी—'तुम्हारी इच्छा ।'

उन लोगोंने योगिनीको पकड़ लिया और यमराजके दरबारमें खींचते हुए ले गये । और भी बहुत-से अपराधी वहाँ उपस्थित थे । जब योगिनीकी बारी आयी, तब यमराजने दूतोंसे पूछा कि 'इसका क्या अपराध है ?' दूतोंने उत्तर दिया, 'महाराज ! इसने कर नहीं दिया ।' यमराजने योगिनीकी ओर देखकर पूछा—'क्या ये सत्य कहते हैं ?'

योगिनी—हाँ, महाराज ! सत्य कहते हैं । यमराजने क्रुद्ध होकर पूछा—'तेरा नाम ?' योगिनी—'प्रेमकी योगिनी ।' यम—'क्या काम करती हो ?' योगिनी—'प्राणनाथकी खोजमें भटक रही हूँ; उनके पास पहुँचकर रहूँगी ।' यम—'क्या खाती हो ?' योगिनी—'प्राणनाथके ध्यानका अमर फल !' यम—'क्या पीती हो ?' योगिनी—'प्राणनाथकी स्मृति-सुधा !' यम—'तुम्हारे हाथके लोटेमें क्या है और ये सुगन्धित पुष्प कहाँके हैं ?' योगिनी—'जल प्रेमाश्रु-सरोवरका है और पुष्प प्रेम-विटपके ।' यमराज कुछ घबराये, पूछा—'योगिनी ! इनको क्या करेगी ?' योगिनी—'प्राणनाथके मन्दिरमें जाकर उनके चरणोंमें चढ़ाऊँगी !'

यमराज सहसा अपने आसनसे उठ खड़े हुए । योगिनीको नमस्कार किया उन्होंने और उससे क्षमा माँगी । फिर अपने दूतोंकी ओर फिरकर कहा—'देखो ! अबसे यदि तुमने प्रभु-प्रेमके यात्रियोंसे कर माँगा या उनको किसी प्रकारका कष्ट दिया तो तुम्हारे प्राणोंकी आहुति दूँगा । जाओ, योगिनीको तुरंत मन्दिरके पास पहुँचा आओ ।'

दूतोंने भूमिपर सिर रखकर प्रणाम किया और बात-की-बातमें योगिनीको प्राणनाथके मन्दिरके समीप पहुँचा दिया ।

कैसा रमणीक स्थान था । चारों ओर शान्ति-ही-शान्ति थी । दिव्य वृक्षों और लताओंकी डालियाँ फूलों और फलोंके बोझसे झुकी पड़ती थीं, अनेक प्रकारकी मधुर मनोरम सुगन्ध वायुमण्डलमें फैल रही थी, रंग-बिरंगी चिड़ियाँ एक डालीसे दूसरी डालीपर और एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर उड़ रही थीं तथा अपनी मधुर स्वर-लहरीसे इस स्थानको स्वर्गसे बढ़कर बना रही थीं । सुखद सुगन्धमय समीर कलियों और हृदयोंको खिलाता हुआ बह रहा था । इस मनोरम स्थानके बीचमें एक सुन्दर दिव्य स्वर्णमन्दिर था । योगिनी अपने पैरोंकी पीड़ा, शरीरकी थकान, भूख और प्यास सब भूल गयी । बड़े उल्लाससे वह मन्दिरकी सीढ़ियों तक गयी । द्वार बंद था । पुजारीने कहा—'योगिनी ! अब विश्राम करो ! सायंकालको मन्दिरका द्वार खुलेगा ।'

योगिनीने पास बहती हुई सरितामें स्नान किया । फिर थकी हुई तो थी ही, एक घने वृक्षकी छायामें पड़कर सो गयी । जब आँख खुली, तब रात हो गयी थी । तारागण आकाशमण्डलमें चमक रहे थे । चन्द्रमा अस्त होनेवाले थे । योगिनी मन्दिरके द्वारपर गयी ।

पुजारीने कहा—'योगिनी ! द्वार खुला था, किंतु बंद हो गया । तुम देरसे आयी ।' योगिनी—'पुजारीजी ! अब कब खुलेगा ?'

पुजारी—कुछ पता नहीं कब और किस समय खुलेगा । यह महाराजकी इच्छापर अवलम्बित है ।

योगिनी लौट आयी । उसने एक पेड़के नीचे धूनी रमा दी । दिन-रात प्राणनाथके नामकी माला जपने लगी । प्रत्येक क्षण मन्दिरके द्वारपर ही दृष्टि टकराती थी । इसी प्रकार प्रतीक्षा करते-करते तीन दिन बीत गये । तीसरे दिवसका दो पहर ढल गया, धूप मध्यम पड़ गयी, ठण्डी शान्तिमय हवा चलने लगी । माला योगिनीके हाथसे गिर पड़ी । दृष्टि मन्दिरकी चौखटसे सिमटकर आँखोंमें समा गयी । ऊपरकी पलकें भारी होकर नीचेकी पलकोंपर आ गिरीं । यह दशा कितनी देर रही, इसका पता नहीं । हाँ, जब आँख खुली तो देखा कि पुजारी सीढ़ियोंसे नीचे उतर रहे थे । माथा ठनका, घबराकर पूछा—'पुजारीजी ! क्या समाचार है ?'

पुजारी—'द्वार खुला था । यात्रियोंने दर्शन किये फिर बंद हो गया । तुम सोती ही रही ।' योगिनी अकुला उठी । उसे वाटिकाके फूल काँटोंके समान आँखोंमें पड़ने लगे । पक्षियोंका राग हृदयमें अनिर्वचनीय वेदना उत्पन्न करने लगा । मन्द-मन्द वायु शूलके समान चुभने लगा । योगिनीने प्राणनाथसे कहा—'मेरी आकुलता, अभी अधूरी है, वही मुझे जिला रही थी पर अब ऐसा नहीं है । अब तो आकुलता सीमापर पहुँच चुकी है । अब तो दर्शन देने ही होंगे ।'

बस यों, आकुल पुकार करते-करते सायंकाल हो चला । वृद्ध सूर्य पश्चिमकी पहाड़ियोंकी आड़में अस्त होने लगा । योगिनीका निस्तेज शरीर आशा-निराशामें डोलने लगा । संध्यामें रात्रिका परिमाण अधिक बढ़ने लगा । एक ठंडी हवाका झोंका मन्दिरकी ओरसे आया, तदनन्तर एक मधुर रागकी तान । मन्दिरका द्वार खुला, योगिनीकी जानमें जान आयी । वह उठ खड़ी हुई । जल और फूल लिये हुए मन्दिरके अंदर गयी । सब यात्रियोंके पश्चात् अश्रुजलसे प्राणनाथके पद-कमलोंको धोकर प्रेम-वृक्षके फूल चढ़ाये । प्राणनाथकी समाधि टूटी । आँखें खुलीं और मधुर मुसकानकी छटा छा गयी । फिर तो योगिनी प्राणनाथके बाहुपाशमें बद्ध और उनके हृदयसे चिपटी थी । प्राणनाथ ! प्राणनाथ ! प्राण है कि प्राणनाथ, कुछ पता नहीं ।

हम लोगोंके हृदयमें तो

धन्यानां हृदि भासतां गिरिवरप्रत्यग्रकुञ्जौकसां सत्यानन्दरसं विकारविभवव्यावर्तमन्तर्महः ।
अस्माकं किल वल्लवीरतिरसो वृन्दाटवीलालसो गोपः कोऽपि महेन्द्रनीलरुचिरश्चित्ते मुहुः क्रीडतु ॥
ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्र आत्मा ।
अस्माकं तु प्रकृतिमधुरस्मेरवक्त्रारविन्दो मेघश्यामः कनकपरिधिपङ्कजाक्षोऽयमात्मा ॥

श्रेष्ठ पर्वतके विशुद्ध कुञ्जमें निवास करनेवाले धन्य पुरुषोंके हृदयमें विकार-विभव-रहित अन्तरका उत्सवरूप सत्यानन्द-रस प्रकाशित हो । परंतु हम लोगोंके हृदयमें तो निश्चय ही गोपीरतिरसरूप वृन्दावनविलासी इन्द्रनीलकान्तिशाली कोई गोप (बालक) सदा सर्वदा खेलता रहे ।

जो ध्यानातीत परम तत्त्वको जानते हैं, उनके हृदयविवरमें शुद्ध चिन्मात्र आत्मा स्थित रहे, परंतु हम लोगोंके हृदयमें तो स्वभावतः मधुर, मुसकानभरे मुखकमलवाले, घनश्याम, पीताम्बर कमलनयन आत्मा विराजित रहें ।

'आण्डाळ्' का 'तिरुप्पावै'

(लेखक—श्री पि० ह० शिवसुब्रह्मण्यम् 'तेनी')

भूमिका

त्रिभूति-त्रिस्तारका त्रिश्लेषण करते हुए श्रीगीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'। सालके बारह महीनोंमें धनुर्मासकी प्रमुख त्रिशेषता होती है। दक्षिण भारतके सभी वैष्णवमन्दिरोंमें इसी महीनेमें सायं-प्रातः त्रिशेष पूजाएँ और उत्सव हुआ करते हैं। मनुष्यमात्रके निःश्रेयस्के हेतु भूदेवीने प्रसिद्ध त्रिष्णुभक्ता 'आण्डाळ्' के रूपमें अवतार लिया था। उसने 'तिरुप्पावै' नामक माधुर्यभावपूर्ण उत्तम ग्रन्थकी रचना तमिळ् भाषामें की थी। मनुष्यजाति सन्मार्गका आश्रय ले और उसके द्वारा अपने जन्मकी सफलता प्राप्त करे, यही उसके इस ग्रन्थका लक्ष्य था। इस ग्रन्थरत्नमें तीस उत्तमोत्तम पद हैं। प्रत्येक पदमें माधुर्यभाव कूट-कूटकर भरा हुआ है। आण्डाळ्ने श्रीरंगनाथजीको ही अपना पति चुन लिया था। उन्हें प्राप्त करनेकी उत्कट और उद्दाम इच्छा उसके नस-नसमें व्याप्त थी। गोकुलकी गोपकन्याओंने श्री-कृष्णचन्द्रको अपना पति मानते हुए अपना उद्देश्य सिद्ध करनेके लिये उपर्युक्त धनुर्मासमें कात्यायनी-व्रतका आचरण किया था, जिसका त्रिवरण हमें श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोकोंसे मिलता है—

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम्॥
उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम्॥
आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम्॥
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः॥

(१०। २२। १, ६, २, ५)

इसीसे मिलते-जुलते व्रतका त्रिशद वर्णन इस ग्रन्थमें किया गया है। 'तिरु' शब्दका अर्थ है 'श्री' और वह यहाँ त्रिशेषणार्थक है। 'श्रीमद्रामायणम्' की तरह भक्ति, आदर तथा श्रद्धाकी भावना प्रकट करनेके लिये प्रयुक्त यह शब्द है। 'पावै' का मतलब 'व्रत' है जिसे तमिळभाषामें 'नोन्बु' भी कहते हैं। आण्डाळ् अपनेको वृष्णिकन्या, अपने जन्मस्थान 'श्रीविल्लिपुत्तूर' को गोकुल तथा श्रीरंगनायजीको व्रजराज मानती हुई उपर्युक्त व्रतका आचरण करनेमें सन्नद्ध होती है। अपनी सखी-सहेलियोंको सम्बोधन करती हुई अपने प्रियतम श्रीमोहनचन्द्र नटवरका गुणगान इस ग्रन्थमें करती जाती है, जो पढ़ते और गाते ही बनता है।

आण्डाळ्की जीवनी

कलियुगका प्रारम्भ होते ही अधर्मका सिर उठने लगा और धर्मकी ग्लानि होने लगी। धर्मरक्षकको अपनी प्रतिज्ञा निभानेकी आवश्यकता पड़ी। अतः उसी जगद्रक्षक-के शंख आदि बारह अंश* बारह आळ्वारोंके रूपमें

* आळ्वारोंका नाम	अवतारांश	दिव्यप्रबंधम् उनमें संकलित उनके पद
(१) पॉय्कै आळ्वार्	पांचजन्य	१००
(२) पूतत्ताळ्वार्	गदा	१००
(३) पेयाळ्वार्	खड्ग	१००
(४) तिरुमलिशै आळ्वार्	चक्र	२१६
(५) नम्माळ्वार्	सेनापति	१२९६

(वैष्णव-संतोंके रूपमें) प्रकट हुए । भूदेवी स्वयं आण्डाळ्के रूपमें अवतीर्ण हुई । इन सबका जन्मस्थान तमिळ्नाडु था । इन बारह आळ्वारोंमें 'पॅरियाळ्वार'का विशिष्ट स्थान है । मद्रास प्रान्तके श्रीविल्लिपुत्तूर क्षेत्रमें इनका आविर्भाव हुआ था । बचपनसे ही श्रीरंगनाथजीकी भक्ति तथा सेवा करनेमें ये अपने दिन बिताने लगे । कहते हैं कि इन्होंने वहाँ एक पुष्पवाटिका लगायी थी और प्रतिदिन सुन्दर सुगन्धयुक्त फूलोंकी माला गूँथकर उस क्षेत्रके विष्णु भगवान्‌को सजाते रहते थे । 'अलंकारप्रियो विष्णुः' । आषाढ़ महीनेकी पूर्वाफाल्गुनीके दिन प्रातःकाल ये अपनी वाटिकामें तुलसीके पौधोंको सींच रहे थे कि एकाएक अपने सामने इनको एक अत्यन्त तेजस्विनी सुकुमार शिशु-कन्या दिखायी पड़ी । इनके आनन्दकी सीमा न रही । उसी क्षण उस कन्याको अपनी गोदमें ले लिया । उस कन्याका नाम 'गोदा' (भूमिकी ओरसे दी हुई) रक्खा गया । व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे गोदा शब्द तमिळ् भाषामें मालार्थक भी है । सुन्दरता तथा मृदुतामें यह कन्या पुष्पमालाके समान थी । यही गोदा आगे चलकर प्रसिद्ध वैष्णव भक्त 'आण्डाल्'के नामसे प्रख्यात हुई । अर्थात् 'श्रीरंगनाथजीके विशुद्ध प्रेममें तल्लीन हुई' अथवा 'जिसने अपनी एकाग्र तपस्याके बलपर उस परम पुरुषको वशीभूत कर लिया ।'

बचपनमें गोदा श्रीरंगनाथजीके अनुपम सौन्दर्यपर मुग्ध होती थी और भगवान् विष्णुके सभी अवतारोंकी कथाएँ तथा लीलाएँ श्रद्धापूर्वक सुना करती थी । श्रीकृष्णकी लीलाओंका उसके मनपर असाधारण प्रभाव पड़ा । वह वाटिकाके फूलोंकी माला गूँथती, अन्तर्यामी मोहनकी अर्चना करती तथा त्रिकरणोंसे उसकी सेवा करती थी । आगे चलकर यही भक्तिविशुद्ध दाम्पत्य-प्रेममें परिणत होने लगी । किशोरी गोदाका एकमात्र ध्येय श्रीरंगनाथजीको अपना पति बनाना था । मीराँकी तरह इसका प्रेम अटल और सर्वाङ्गीण था । श्रीरंगनाथजीका गुणगान और उनकी गरिमाका सतत चिन्तन और कीर्तन ही उसकी दिनचर्या हो गयी ।

'संतन ढिग बैठि बैठि लोकलाज खोई ।
अँसुअन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई ॥'

यही हाल गोदाका भी था । गोदाके मनमें कभी-कभी यह ख्याल आया करता था कि मैं उस 'मोहिनि मूरति, साँवरि सूरति' और 'वनमाली' की उपयुक्त प्रेयसी तो नहीं हूँ । वह अपनी सुन्दरता आँकनेके लिये उसी मालाको पहनकर अपना सौन्दर्य निहारती थी, जिसको उसके पिता श्रीरंगनाथजीको समर्पित करनेके लिये गूँथकर रखते थे । एक दिन यह घटना पॅरियाळ्वारने देख ली । वे बड़े दुखी हुए । इस अनजान अपचारके लिये वे सच्चे हृदयसे श्रीरंगनाथकी क्षमा-प्रार्थना करने लगे । किंतु 'हम भक्तनके, भक्त हमारे' वाले भगवान्‌के लिये यही क्रिया विशेष आनन्दजनक थी । शबरीके बेरोंका स्वाद भूला न था । अतएव पॅरियाळ्वारको स्वप्नमें

(६) कुलशेखराळ्वार्	कौस्तुभ	१०५
(७) पॅरियाळ्वार	गरुड	४७३
(८) तॉण्डरडिप्पॉडियाळ्वार्	वनमाला	५५
(९) तिरुप्पाणाळ्वार्	श्रीवत्स	१०
(१०) तिरुमङ्गैयाळ्वार्	शारङ्ग	१२५३
(११) मधुरकवि आळ्वार्	वैनतेय	११
(१२) आण्डाळ्	भूदेवी	१७३

नालायिरं दिव्यप्रबन्धम्के कुल पद ४०००

दर्शन देकर भगवान्ने सान्त्वना दी और कहा कि 'गोदाकी पहनी हुई माला मुझे बहुत प्यारी लगती है ।' इसी कारण गोदा 'चूडिक्कॉडुत्त् नाचियार' (जिस देवीने स्वयं पहनी हुई माला परम पुरुषको पहनायी थी) के नामसे प्रसिद्ध हुई ।

चढ़ती जवानीमें गोदाके प्रेमने तीव्र और एकाग्र रूप धारण कर लिया । उसका पक्का इरादा हो गया कि जिस तरह गोपिकाओंने सब कुछ त्यागकर श्रीकृष्णचन्द्रके ध्यान और रास-लीलामें अपना जीवन लगा दिया, उसी तरह मुझे भी तन्मय हो जाना चाहिये, तभी अपने जीवनका उद्देश्य सफल हो सकता है । वह स्वयं अपनेको गोपिका मानती और उन्हीं रासलीलाओंकी यादमें पुलकित होती और सुध-बुध खो बैठती थी । उसके मनमें यह बात अच्छी तरह बैठ गयी कि गोपिकाओंने कात्यायनी-व्रतका आचरण किया था और वेणुगोपालको पतिके रूपमें पाया था । गोदाने भी उसी व्रतका आचरण और फल-प्राप्तिका वर्णन करते हुए 'तिरुप्पावै' की रचना कर डाली ।

कुछ दिनोंके उपरान्त जब पॅरियाळ्वार् गोदाके विवाहकी चिन्ता करने लगे, तब उसने स्पष्टतः अपने मनकी बात कह दी कि मैं नश्वर मनुष्यकी पत्नी नहीं बन सकती, मैंने तो उस 'अविनाशी' को ही वर लिया है और 'मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई' । उसी दिन रातको श्रीरंगनाथजीने स्वप्नमें पॅरियाळ्वार्को यह आदेश दिया कि तुम गोदाको लेकर श्रीरंगम् (यह प्रसिद्ध वैष्णव क्षेत्र तिरुचिरापल्लीके पास कावेरी नदीके तटपर बसा हुआ है) पहुँच जाओ और वहीं हम गोदासे विवाह कर लेंगे ।' कहा जाता है कि तदनुसार पॅरियाळ्वार् गोदाको लेकर श्रीरंगम्के मन्दिरमें जा पहुँचे और वहीं श्रीरंगनाथजीके साथ गोदाका पाणिग्रहण भी सम्पन्न हुआ । आज भी दक्षिणके सभी वैष्णव मन्दिरोंमें धनुर्मासके तीसवें दिन आण्डाळ्-श्रीरंगनाथ-विवाहोत्सव बड़ी धूम-धामसे मनाया जाता है ।

श्रीभट्टजी, जो एक पहुँचे हुए वैष्णव संत हो गये हैं, आण्डाळ्के प्रति अपनी श्रद्धा यों व्यक्त करते हैं—

नीळातुंगस्तनगिरितटीसुप्तमुद्बोध्य कृष्णं
पारार्थ्यं स्वं श्रुतिशतशिरस्सिद्धमध्यापयन्ती ।
स्वोच्छिष्टायां स्रजि निगलितं या बलात्कृत्य भुङ्क्ते
गोदा तस्यै नम इदमिदं भूय एवास्तु भूयः ॥

तिरुप्पावैकी सारगर्भिता तथा तत्त्वार्थपूर्णतापर प्रकाश डालते हुए विष्णुभक्त श्रीउय्यक्कॉण्डार्का यह पद भी ध्यान देने योग्य है—

'अन्नवयऱ् पुदुवै याण्डा ळरङ्गऱ्कुप्
पन्नु तिरुप्पावैप् पल पतिकम्—
इन्निशैयाल पाडिक् कॉडुत्ताळ् नऱ्पामालै
पूमालै चूडिक कॉँडुत्ताळैच् चॉल ॥

भावार्थ—भक्तिपूर्वक उस गोदा देवीका नाम जपा करो, जिसने हंससंचारके योग्य हरे-भरे क्षेत्रोंसे परिवृत श्रीविल्लीपुत्तूरमें जन्म लिया था, जिसने गूढार्थपूर्ण रागिनीरञ्जित त्रिंशत्पद्योंके 'तिरुप्पावै, ग्रन्थकी रचना की थी तथा जिसने अपने गलेकी वनमालाकी उतरन श्रीरंगनाथजीको पहनायी थी । (क्रमशः)

[**संकेतसूची—**
ऱ् = यह रेफका महाप्राण है। इसका उच्चारण करीब-करीब 'ट्र'के समान होता है ।
ळ = मराठी और संस्कृतके इस अक्षरका उपयोग तमिळ् भाषामें होता है । वही उच्चारण है ।
ऴ = यह वर्त्स्य वर्ण तमिळ् भाषाका अपना विलक्षण अक्षर है । इसका उच्चारण 'ळ' और 'ष'के बीचका है ।
ॲ; ऑ = ये दोनों क्रमशः एकार और ओकारके ह्रस्व रूप हैं ।
इसके अतिरिक्त तमिळ भाषामें संयुक्त व्यञ्जनोंका प्रयोग नहीं है। ऐसी जगह व्यञ्जनोंसे ही काम चल जाता है। आगेके पदोंमें ऐसा ही प्रयोग हिंदीके उल्थेमें किया जा रहा है। ले०]

सती दाड़ल दे

(लेखक—श्रीआणंदजी कालीदास बाघेला)

लगभग छः सौ वर्ष पहलेकी बात है । उस समय सौराष्ट्र—मोरवीके राज्यासनपर राजा रावत रणसिंह आसीन थे । मोरवीमें एक अन्त्यज-दम्पति रहते थे । पतिका नाम था खीमरा और पत्नीका नाम था दाड़ल । ये दोनों बड़े ही सात्त्विक स्वभावके तथा संत-शीलका पालन करनेवाले थे । संसारके प्रपञ्चसे प्रायः अलग रहकर भगवद्भजनमें ही ये अपना जीवननिर्वाह करते थे । दोनोंमें परस्पर बड़ा स्नेह था । दाड़लका पातिव्रत बड़ा विलक्षण था ।

एक दिन प्रातःकाल राजा रणसिंह घोड़ेपर सवार होकर शहरमें घूमने निकले । वे एक कूएँके पास जा पहुँचे । कुछ स्त्रियाँ जल भर रही थीं । कोई पुरुष पास न होनेसे उन्होंने अपने घूँघट उठा रक्खे थे । राजाकी दृष्टि उनमेंसे एक तरुणी स्त्रीपर पड़ी और वह वहीं ठहर गयी । उन्होंने मन-ही-मन उस रूपसीके सौन्दर्यकी प्रशंसा की । मनमें विकार आ गया । तरुणीने लज्जासे घूँघट निकाल लिया और वह घड़ा उठाकर चल दी । राजाकी बुद्धि मारी गयी थी । उन्होंने भी अपना घोड़ा उसके पीछे लगा दिया । एक जगह युवतीके पास घोड़ा रोककर राजाने अपने हाथसे युवतीका घूँघट उठा दिया और उसकी ओर लुभावनी दृष्टिसे देखा ।

युवतीका शरीर राजाके स्पर्शसे मानो जल उठा; उसने बड़े दुःख और रोषभरे शब्दोंमें लज्जासे सिर नीचा करके कहा—'राजा ! तुम प्रजाका पालन करनेवाले पिता कहलाते हो । मैं तुम्हारी कन्याके समान हूँ, तुम्हें जरा भी शर्म नहीं आयी—मेरा स्पर्श करते और घूँघट उठाते । मैं लाजसे मरी जाती हूँ—पर तुम इतने निर्लज्ज हो गये, जो एक निर्दोष अबलापर ऐसा अत्याचार कर बैठे । तुमने बड़ी भूल की ।

'मैं एक नीची जातिकी लड़की हूँ । लोग हमलोगोंको अस्पृश्य मानते हैं और हमसे दूर रहते हैं, परंतु तुम्हारे-जैसे कामके गुलाम मनुष्य तो अत्यन्त अधम तथा सर्वथा अस्पृश्य हैं । तुमने मुझको छूकर मुझे सर्वथा अपवित्र बना दिया है ।'

लोग आसपास इकट्ठे हो गये थे । राजा सिर नीचा करके महलकी ओर चले गये ।

इसी बीच उसके साथकी और स्त्रियाँ भी वहाँ आ पहुँची थीं । दाड़ल सती थी । उसने अपने पड़ोसकी एक लड़कीसे कहा—'बहिन ! तुम कृपा करके मेरे पतिके पास जाकर उनसे कह दो कि दाड़लका शरीर अपवित्र हो गया है, किसी परपुरुषने स्पर्श करके उसके सतीत्वको दूषित कर दिया है । अतएव वह उस शरीरको अब नहीं रखना चाहती । वह पृथ्वीमें समाधि लेगी । आपको तुरंत बुलाया है ।'

उसने खीमराके पास जाकर यह संदेश सुना दिया । वह तो सुनते ही हक्का-बक्का-सा रह गया । दौड़कर दाड़लके पास आया और अपलक नेत्रोंसे उसकी ओर देखता हुआ बोला— 'दाड़ल, सती ! बताओ, मुझसे क्या गलती हो गयी है ?'

दाड़लने नम्रतासे कहा—'स्वामी ! आपसे कुछ भी गल्ती नहीं हुई, होनहारकी बात है । मैं जलका घड़ा लिये अपने रस्ते जा रही थी । राजा रणसिंहने हाथसे स्पर्श करके मेरे शरीरको अपवित्र कर दिया । उसने मेरी ओर कुदृष्टिसे देखा भी । सम्भव है कि बुद्धि नष्ट हो जानेके कारण वह और भी निर्दोष अबलाओंको पापदृष्टिसे देखे । अतः मैं अपना शरीर नष्ट करके राजाके इस पाप-मार्गमें बाधा दूँगी ।'

खीमरा--सती ! मनुष्य भूलसे भरा प्राणी है। राजाकी भूल हुई, उसे माफ कर दो। इसमें तुम्हारा क्या दोष है? राजा तो प्रजाका पालन करनेवाला माना जाता है।

दाड़ल—इसीलिये तो मैं अपने इस अपवित्र शरीरको नष्ट करके राजाको पापसे बचाना और उसे प्रजापालक बनाना चाहती हूँ। मैं अब इस शरीरको नहीं रख सकती। आप जल्दी करें।

खीमराने समझ लिया कि सत्यप्रतिज्ञ दाड़ल अपनी बातको कभी नहीं छोड़ेगी, वह कुछ बोल नहीं सका, आँसूभरी आँखोंसे उसकी ओर देखने लगा। तब पतिकी ओर करुण-दृष्टिसे देखकर दाड़लने कहा—'मेरे नाथ ! मुझे भी आपका वियोग बहुत असह्य है, परंतु यह अपवित्र शरीर अब आपका स्पर्श करने लायक नहीं रहा। आपकी सेवासे वञ्चित रहकर मैं जीना नहीं चाहती। आप मुझे रोकें नहीं। अब तो मैं निश्चय ही प्रभुकी शरणमें जाऊँगी। प्रभु आपका कल्याण करेंगे। आपकी शुभ भावनाको अचल रक्खेंगे। आप मेरे अपराधोंको क्षमा करें।'

दाड़लके वचन सुनकर खीमरा चुप हो गया। उसने अपने हृदयको दृढ़ बनाया। कुछ दूर एकान्तमें जाकर पृथ्वी माताको प्रणाम किया और सतीकी जीवित समाधिके लिये जमीन खोदकर तैयार कर दी।

सती दाड़लने स्नान किया, स्वच्छ-सुन्दर वस्त्र पहने, गलेमें तुलसीकी माला धारण की। ललाटपर कुंकुमका तिलक लगाया और मुखसे भगवान्के नामका उच्चारण आरम्भ कर दिया। उस समय दाड़लके रूपमें सब लोगोंको साक्षात् माता भगवतीके दर्शन होने लगे।

बिजलीकी तरह सारे शहरमें यह समाचार फैल गया। सतीके दर्शनार्थ जनसमूह एकत्र हो गया। लोग आरती उतारने लगे। शंख, घण्टा, घड़ियालकी ध्वनिसे चारों ओर सात्त्विक वातावरण छा गया। मानो पृथ्वीपर स्वर्ग उतर आया हो। राजाको भी समाचार मिला। उन्हें अपनी भूल प्रत्यक्ष दिखायी दी और सर्वथा निर्मल सतीकी समाधिमें अपनेको कारण समझकर राजाका मन पश्चात्तापकी आगसे जल उठा। पश्चात्तापकी प्रचण्ड अग्निने राजाके हृदयके दोषरूपी कूड़ेको जला दिया। उनका हृदय पलटा और वे नंगे सिर, नंगे पैर दौड़कर वहाँ जा पहुँचे, जहाँ सती दाड़ल समाधिमें प्रवेश करनेको तैयार थी। राजाका श्वास जोर-जोरसे चल रहा था, आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लगी थी। राजा सहसा आकर सतीके चरणोंमें गिर पड़े और रुँधे कण्ठसे कहने लगे—'देवी ! मैं महापापी हूँ, मेरे अपराधको क्षमा कर दो।' दाड़ल—'राजा ! मैं क्या क्षमा कर दूँ। तुम्हारा यह सच्चा पश्चात्ताप ही यथार्थ क्षमा है। मैं तो प्रायश्चित्तके लिये ही समाधि ले रही हूँ। सर्वेश्वर प्रभु सबका कल्याण करते हैं। जब मनुष्य अपनी भूलको समझकर प्रभुके सामने सच्चे हृदयसे रो पड़ता है, तब प्रभु उसे क्षमा कर देते हैं। राजन् ! मनुष्यकी जब बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, तब वह प्रभुको भूलकर विषयोंका दास बन जाता है और तभी उससे ऐसी भूल होती है।'

राजाने गिड़गिड़ाकर अपनेद्वारा बने हुए इस महान् अपराधसे मुक्ति पानेका उपाय पूछा। तब दाड़लने कहा—

'राजा ! सच्चा पश्चात्ताप ही प्रायश्चित्त है। पश्चात्तापभरे हृदयसे भगवान्से करुण-प्रार्थना करो और भविष्यमें पवित्र रहनेकी प्रतिज्ञा करो।'

राजा—'सती ! मेरे जीवनका अन्तिम समय सुधर जाय, ऐसा उपदेश करो।' दाड़ल—'जीवनके शेष समयको तथा अन्तकालको सुधारनेके लिये प्रभुकी शरणागति ही परम साधन है। संतोंका संग,

भगवन्नामका जप तथा श्रद्धा-भक्तियुक्त हृदयसे भगवान्‌का आश्रय लेना चाहिये । ऐसा करनेपर सारे अनिष्टोंसे मुक्ति पाकर मनुष्य प्रभु-कृपाका अधिकारी हो जाता है । अतएव तुम अपने मनकी सारी आसक्ति, कामना, ममता, अहंकारको प्रभुके समर्पित करके उनके शरण हो जाओ और जीवनका शेष समय उनके नाम-स्मरणमें लगा दो । तुम्हें अन्तमें निश्चय ही शान्ति मिल जायगी ।

'जो ऐसा करते हैं' उनको शान्ति मिलती ही है और जो भगवान्‌को भूलकर भोगोंसे ही सुख-प्राप्तिकी आशा रखते हैं, उनको तो जन्म-जन्मान्तरमें निराशा ही प्राप्त होती है ।'

राजाने सती दाड़लके उपदेशको शिरोधार्य करके उनसे प्रार्थना की—'देवी ! मैं समीपस्थ संतसमाजको निमन्त्रण भेजकर बुला रहा हूँ, तबतक आप समाधिमें प्रवेश न करें ।' राजाकी बात दाड़लने मान ली और उसने राजाको आश्वासन दिया ।

राजाका निमन्त्रण पाकर उस समयके संत—संत श्रीजेसलजी, सती तोरण दे, संत रामदेवजी, संत कुम्भाजी, सती मालदे, महारानी सती रूपा दे, भक्त ढाँगाजी बनवीर, भक्त साराजी और भक्त सूराजी आदिने पधारकर सुव्यवस्थित रीतिसे भगवन्नामामृतकी सुरसरि-धारा बहाकर सतीकी सराहना की और राजा रणसिंहके प्रायश्चित्तकी पूर्ति तथा पापमुक्तिके लिये परमेश्वरसे प्रार्थना की । ऐसा लगा, मानो संतोंकी प्रार्थना सुनकर प्रभुने राजाका अपराध क्षमा कर दिया । राजाका श्याम वदन उज्ज्वलता धारण करके चमक उठा । संत-समाजके प्रेमभरे आशीर्वादसे राजाके दृष्टिदोषका भी सदाके लिये निवारण हो गया । उनका भूत-वर्तमान-भविष्य बन गया । राजाको सत्यका अनुभव हो गया और उन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया कि मानसिक पाप तथा दृष्टिदोषसे देवदुर्लभ मानव-जीवनका कितना अकल्याण होता है और संत-कृपासे किस प्रकार तुरंत कल्याण हो जाता है ।

संत-समाजने सती दाड़लके स्वामी भक्त खीमराको सनातनमार्गीय समाजके कोतवालके पदपर नियुक्त किया ।

सती दाड़ल दे समस्त संत-समाजसे जय जयराम, जय सीताराम कहकर समाधिमें प्रवेश करनेको उठ खड़ी हुई और राजाको क्षमादान देकर समाधिमें उतर गयी । दाड़ल देने समस्त संत समाजको, भक्तोंको, आबाल-वृद्ध ग्रामनिवासियोंको नमस्कार किया और अपने पतिदेवके चरणोंकी धूलको मस्तकपर रखकर शान्तचित्त और सुप्रसन्न मुखमुद्रासे वह समाधिमें बैठ गयीं । उपस्थित नर-नारी—विराट् जनसमुदाय भगवन्नामका गगनभेदी जय-घोष करने लगे । माता पृथ्वीने बड़े प्यारके साथ अपनी प्यारी पुत्रीको गोदमें बैठाकर अपने अंदर छिपा लिया ।

सती दाड़ल देके आश्चर्यजनक सतीत्वके प्रभावने राजा रणसिंहके हृदयको सदाके लिये पवित्र बनाकर उन्हें भगवान्‌का सच्चा भक्त बना दिया ।

आजकी स्वच्छन्द नारियाँ इस पवित्रहृदया हरिजन-नारीके सतीत्वगौरवसे शिक्षा ग्रहण करें ।

'बोलो सती, संत तथा सत्यकी जय ।'

हरिमिलन

नारायण अति कठिन है, हरि मिलिवेकी वाट । या मारग जो पगु धरै सीस प्रथम दै काट ॥
नारायण प्रीतम निकट सोई पहुँचन हार । गैंद बनावै सीसकी खेलै बीच बजार ॥

—नारायण स्वामी

भगवत्प्राप्ति

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'मनुष्य-जीवन मिला ही भगवान्‌को पानेके लिये है। संसारके भोग तो दूसरी योनियोंमें भी मिल सकते हैं। मनुष्यमें भोगोंको भोगनेकी उतनी शक्ति नहीं जितनी दूसरे प्राणियोंमें है!' वक्ताकी वाणीमें शक्ति थी। उनकी बातें शास्त्रसंगत थीं, तर्कसम्मत थीं और सबसे बड़ी बात यह थी कि उनका व्यक्तित्व ऐसा था जो उनके प्रत्येक शब्दको सजीव बनाये दे रहा था। 'भगवान्‌को पाना है—इसी जीवनमें पाना है। भगवत्प्राप्ति हो गयी तो जीवन सफल हुआ और न हुई तो महान् हानि हुई।'

प्रवचन समाप्त हुआ। लोगोंने हाथ जोड़े, सिर झुकाया और एक-एक करके जाने लगे। सबको अपने-अपने काम हैं और वे आवश्यक हैं। यही क्या कम है जो वे प्रतिदिन एक घंटे भगवच्चर्चा भी सुनने आ बैठते हैं। परंतु अवधेश अभी युवक था, भावुक था। उसे पता नहीं था कि कथा पल्लाझाड़ भी सुनी जाती है। वह प्रवचनमें आज आया था और उसका हृदय एक ही दिनके प्रवचनने झकझोर दिया था।

सब लोगोंके चले जानेके बाद उसने वक्तासे कहा—'मुझे भगवत्प्राप्ति करनी है, उपाय बतलाइये।' वक्ता बोले—'बस, भगवान्‌को प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये, फिर घरके सारे काम भगवान्‌की पूजा बन जायँगे।' उसने कहा—'महाराज! घरमें रहकर भजन नहीं हो सकता। आप मुझे स्नेहवश रोक रहे हैं, पर मैं नहीं रुकूँगा।' इतना कहकर वक्ताको कुछ भी उत्तर देनेका अवसर दिये बिना ही युवक तुरंत चल दिया।

'भगवान्‌को पाना है—इसी जीवनमें पाना है।' सात्त्विक कुलमें जन्म हुआ था। पिताने बचपनसे स्तोत्रपाठादिके संस्कार दिये थे। यज्ञोपवीत होते ही त्रिकाल-संध्या प्रारम्भ हो गयी, भले पिताके भयसे प्रारम्भ हुई हो। ब्राह्मणके बालकको संस्कृत पढ़ना चाहिये, पिताके इस निर्णयके कारण कालेजकी वायु लग नहीं सकी। इस प्रकार सात्त्विक क्षेत्र प्रस्तुत था। आजके प्रवचनने उसमें बीज वपन कर दिया। अवधेशको आज न भोजन रुचा, न अध्ययनमें मन लगा। उसे सबसे बड़ी चिन्ता थी—उसका विवाह होनेवाला है। सब बातें निश्चित हो चुकी हैं। तिलक चढ़ चुका है। अब वह अस्वीकार करे भी तो कैसे और—'भगवान्‌को पाना है' इस बन्धनमें पड़ा तो पता नहीं क्या होगा।

दिन बीता, रात्रि आयी। पिताने, माताने तथा अन्य कईने कई बार टोका—'अवधेश! आज तुम खिन्न कैसे हो?' परंतु वह, किसीसे कहे क्या। रात्रिमें कहीं चिन्तातुरको निद्रा आती है। अन्तमें जब सारा संसार घोर निद्रामें सो रहा था, अवधेश उठा। उसने माता-पिताके चरणोंमें दूरसे प्रणाम किया। नेत्रोंमें अश्रु थे; किंतु घरसे वह निकल गया।

'अवधेशका स्वास्थ्य कैसा है?' प्रातः जब पुत्र नित्यकी भाँति प्रणाम करने नहीं आया, तब पिताको चिन्ता हुई।

'वह रात बाहर नहीं सोया था?' माता व्याकुल हुई। उन्होंने तो समझा था कि अधिक गरमीके कारण वह बाहर पिताके समीप सोया होगा।

पुत्रका मोह—कहीं वह स्वस्थ, सुन्दर, सुशील और गुणवान् हो; मोह तो माता-पिताको कुरूप, कुपुत्र, दुर्व्यसनी पुत्रका भी होता है। विद्या-विनयसम्पन्न युवक पुत्र जिसका चला जाय, उस माता-पिताकी व्यथाका वर्णन कैसे किया जाय। केवल एक पत्र मिला था—'इस कुपुत्रको क्षमा कर दें! आशीर्वाद दें कि इसी जीवनमें भगवत्प्राप्ति कर सकूँ।'

× × × ×

'आपने यहाँ अग्नि क्यों जलायी?' वनका रक्षक रुष्ट था—'एक चिनगारी यहाँ सारे वनको भस्म कर सकती है।'

'रात्रिमें वन-पशु न आवें इसलिये!' अवधेश—अनुभवहीन युवक, वह सीधे चित्रकूट गया और वहाँसे आगे वनमें चला गया। उसे क्या पता था कि पहले ही प्रातःकाल उसे डाँट सुननी पड़ेगी। अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहा उसने—'मैं सावधानीसे अग्नि बुझा दूँगा।'

'बिना आज्ञाके यहाँ अग्नि जलाना अपराध है!' वनके रक्षकने थोड़ी देरमें ही अवधेशको बता दिया कि भारतके

सब वन सरकारी वन-विभागद्वारा रक्षित हैं। वहाँ अग्नि जलानेकी अनुमति नहीं है। वहाँके फल-कन्द सरकारी सम्पत्ति हैं और बेचे जाते हैं। वनसे बिना अनुमति कुछ लकड़ियाँ लेना भी चोरी है।

'हे भगवान्!' बड़ा निराश हुआ अवधेश। वनमें आकर उसने देखा था कि उसे केवल जंगली बेर और जंगली भिंडी मिल सकती है। वह समझ गया था कि ये भी कुछ ही दिन मिलेंगे; किंतु वैराग्य नवीन था। वह पत्ते खाकर जीवन व्यतीत करनेको उद्यत था, परंतु वनमें तो रहनेके लिये भी अनुमति आवश्यक है। आज कहीं तपोवन नहीं हैं।

'आप मुझे क्षमा करें! मैं आज ही चला जाऊँगा।' वन-रक्षकसे उसने प्रार्थना की। वैसे भी जंगली भिंडी और जंगली बेरके फलके आहारने उसे एक ही दिनमें अस्वस्थ बना दिया था। उसके पेट और मस्तकमें तीव्र पीड़ा थी। लगता था कि उसे ज्वर आनेवाला है।

'आप मेरे यहाँ चलें!' वन-रक्षकको इस युवकपर दया आ रही थी। यह भोला बालक तपस्या करने आया था—कहीं यह तपस्याका युग है। 'आज मेरी झोपड़ीको पवित्र करें।'

अवधेश अस्वीकार नहीं कर सका। उसका शरीर किसीकी सहायता चाहता था। उसके लिये अकेले पैदल वनसे चित्रकूट बस्तीतक जाना आज सम्भव नहीं रह गया था। 'यदि ज्वर रुक गया—कौन कह सकता है कि वह नहीं रुकेगा।' अवधेश तो कल्पनासे ही घबरा गया। उसने सोचा ही नहीं था कि वनमें जाकर वह बीमार भी पड़ सकता है।

× × × ×

'आप मुझे अपनी शरणमें ले लें।' बढ़े केश, फटी-सी धोती, एक कई स्थानोंसे पिचका लोटा—युवक गौरवर्ण है, बड़े-बड़े नेत्र हैं; किंतु अत्यन्त दुर्बल है। सम्भ्रान्त कुलका होनेपर भी लगता है कि निराश्रित हो रहा है। उसने 'महात्माके चरण पकड़ लिये और उनपर मस्तक रखकर फूट-फूटकर रोने लगा।'

'मुझे और सारे विश्वको जो सदा शरणमें रखता है, वही तुम्हें भी शरणमें रख सकता है।' ये महात्माजी प्रज्ञाचक्षु हैं। गङ्गाजीमें नौकापर ही रहते हैं। काशीके बड़े-से-बड़े विद्वान् भी बड़ी श्रद्धासे नाम लेते हैं इनका। इन्होंने युवकको पहचाना या नहीं, पता नहीं किंतु आश्वासन दिया—'तुम पहले गङ्गास्नान करो और भगवत्प्रसाद लो। फिर तुम्हारी बात सुनूँगा।'

'आप मुझे अपना लें! मेरा जीवन व्यर्थ नष्ट हो रहा है!' युवक फूट-फूटकर रो रहा था—'मुझे नहीं सूझता कि मुझे कैसे भगवत्प्राप्ति होगी।'

'तुम पहले स्नान-भोजन करो।' महात्माने बड़े स्नेहसे युवककी पीठपर हाथ फेरा—'जो भगवान्को पाना चाहता है, भगवान् स्वयं उसे पाना चाहते हैं। वह तो भगवान्को पायेगा ही।'

युवकने स्नान किया और थोड़ा-सा प्रसाद शीघ्रतापूर्वक मुखमें डालकर गङ्गाजल पी लिया। उसे भोजन-स्नानकी पड़ी नहीं थी। वैराग्य सच्चा था और लगनमें प्राण थे। वह कुछ मिनटोंमें ही महात्माजीके चरणोंको पकड़कर उनके समीप बैठ गया।

'पहले तुम यह बताओ कि तुमने अबतक किया क्या?' महात्माजीने तनिक स्मितके साथ पूछा।

'बड़ा लंबा पुराण है!' अवधेश—हाँ, वह युवक अवधेश ही है—यह आपने समझ लिया होगा। उसने अपनी बात प्रारम्भ की। उसने बताया कि वह खूब भटका है इधर चार वर्षोंमें। उसे एक योगीने नेती, धोती, न्यौली, ब्रह्मदाँतौन तथा अन्य अनेक योगकी क्रियाएँ करायीं! उन क्रियाओंके मध्य ही उसके मस्तकमें भयंकर दर्द रहने लगा। बड़ी कठिनाईसे एक वृद्ध संतकी कृपासे वह दूर हुआ। उन वृद्ध संतने योगकी क्रियाएँ सर्वथा छोड़ देनेको कह दिया।

'ये मूर्ख!' महात्माजी कुछ रुष्ट हुए—'ये योगकी कुछ क्रियाएँ सीखकर अपने अधूरे ज्ञानसे युवकोंका स्वास्थ्य नष्ट करते फिरते हैं। आज कहाँ हैं अष्टाङ्गयोगके ज्ञाता। यम-नियमकी प्रतिष्ठा हुई नहीं जीवनमें और चल पड़े आसन तथा मुद्राएँ कराने। असाध्य रोगके अतिरिक्त और क्या मिलता है इस व्यायामके दूषित प्रयत्नमें।'

'मुझे एकने कान बंद करके शब्द सुननेका उपदेश दिया।' अवधेशने महात्माजीके चुप हो जानेपर बताया—'एक कुण्डलिनी योगके आचार्य भी मिले। मुझे घनगर्जन

भी सुनायी पड़ा और कुण्डलिनी-जागरणके जो लक्षण वे बताते थे, वे भी मुझे अपनेमें दीखे। नेत्र बंद करके मैं अद्भुत दृश्य देखता था; किंतु मेरा संतोष नहीं हुआ। मुझे भगवान् नहीं मिले—मिला एक विचित्र झमेला।'

'अधिकारीके अधिकारको जाने बिना चाहे जिस साधनमें उसे जोत दिया जाय—वह पशु तो नहीं है।' महात्माजीने कहा—'धारणा, ध्यान, समाधि—चाहे शब्दयोगसे हो या लययोगसे; किंतु जीवनमें चाञ्चल्य बना रहेगा और समाधि कुछ क्रियामात्रसे मिल जायगी, ऐसी दुराशा करनेवालोंको कहा क्या जाय। जो भगवद्दर्शन चाहता है उसे सिखाया जाता है योग…! भगवान्‌की कृपा है तुमपर। उन्होंने तुम्हें कहीं अटकने नहीं दिया।'

'मैं सम्मान्य धार्मिक अग्रणियोंके समीप रहा और विश्रुत आश्रमोंमें। कुछ प्रख्यात पुरुषोंने भी मुझपर कृपा करनी चाही।' अवधेशमें व्यङ्ग नहीं, केवल खिन्नता थी—'जो अपने आश्रम-धर्मका निर्वाह नहीं कर पाते, जहाँ सोने-चाँदीका सेवन और सत्कार है, जो अनेक युक्तियाँ देकर शिष्योंका धन और शिष्याओंका धर्म अपहरण करनेका प्रयत्न करते हैं, वहाँ परमार्थ और अध्यात्म भी है, यह मेरी बुद्धिने स्वीकार नहीं किया।'

'कलियुगका प्रभाव—धर्मकी आड़में ही अधर्म पनप रहा है!' महात्माजीमें भी खिन्नता आयी—'जहाँ संग्रह है, विशाल सौध हैं, वहाँ साधुता कहाँ है। जहाँ सदाचार नहीं, इन्द्रियतृप्ति है, वहाँसे भगवान् या आत्मज्ञान बहुत दूर है। परंतु इतनी सीधी बात लोगोंकी समझमें नहीं आती। सच तो यह है कि हमें कुछ न करना पड़े, कोई आशीर्वाद देकर सब कुछ कर दे, इस लोभसे जो चलेगा वह ठगा तो जायगा ही। आज धन और नारीका धर्म जिनके लिये प्रलोभन हैं, ऐसे वेशधारियोंका बाहुल्य इसीलिये है। ऐसे दम्भी लोग सच्चे साधु-महात्माओंका भी नाम बदनाम करते हैं।

'मैं करनेको उद्यत हूँ।' अवधेशने चरणोंपर मस्तक रक्खा—'मुझे क्या करना है, यह ठीक मार्ग आप बतानेकी कृपा करें।'

'घर लौटो और माता-पिताको अपनी सेवासे संतुष्ट करो।' महात्माजीने कहा—'वे चाहते हैं तो विवाह करो।' घरके सारे काम भगवान्‌की पूजा समझकर करो—यही तो उस वक्ताने तुमसे कहा था।

'देव!' अवधेश रो उठा।

'अच्छा, आज अभी रुको।' महात्माजी कुछ सोचने लगे।

× × × ×

'ये पुष्प अञ्जलिमें लो और विश्वनाथजीको चढ़ा आओ!' प्रातः स्नान करके जब अवधेशने महात्माजीके चरणोंमें मस्तक रक्खा, तब महात्माजीने पास रक्खी पुष्पोंकी डलिया खींच ली। टटोलकर वे अवधेशकी अञ्जलिमें पुष्प देने लगे। बड़े-बड़े सुन्दर कमलपुष्प—थोड़े ही पुष्पोंसे अञ्जलि पूर्ण हो गयी। महात्माजीने खूब ऊपरतक भर दिये पुष्प।

असीघाटसे अञ्जलिमें पुष्प लेकर नौकासे उतरना और उसी प्रकार तीन मील दूर विश्वनाथजी आना सरल नहीं है। परंतु अवधेशने इस कठिनाईकी ओर ध्यान नहीं दिया। वह पुष्पोंसे भरी अञ्जलि लिये उठा।

'कोई पुष्प गिरा तो नहीं?' महात्माजीने भरी अञ्जलिसे नौकामें पुष्प गिरनेका शब्द सुन लिया।

'एक गिर गया।' अवधेशका स्वर ऐसा था जैसे उससे कोई बड़ा अपराध हो गया हो।

'कहाँ गिरा, गङ्गाजीमें?' फिर प्रश्न हुआ।

'नौकामें' अवधेश खिन्न होकर बोला—'मैं सम्हाल नहीं सका।'

'न विश्वनाथको चढ़ सका, न गङ्गाजीको।' महात्माजीने कहा—'अच्छा, अपनी अञ्जलिके पुष्प मुझे दे दो!'

अवधेशने महात्माजीकी फैली अञ्जलिमें अपनी अञ्जलिके पुष्प भर दिये। महात्माजीने कहा—'बाबा विश्वनाथ!' और सब पुष्प वहीं नौकामें गिरा दिये।

'भैया, ये पुष्प विश्वनाथजीको चढ़ गये?' पूछा महात्माजीने।

'चढ़ गये भगवन्!' अवधेशने मस्तक झुकाया।

'बच्चे! तू जहाँ है, भगवान् तेरे पास ही हैं। वहीं तू उनके श्रीचरणोंपर मस्तक रख!' महात्माजीने अबकी कुछ ऐसी बात कही जो भली प्रकार समझमें नहीं आयी।

'वहाँ किनारे एक कोढ़ी बैठता है!' साधु होते ही विचित्र हैं। पता नहीं कहाँसे कहाँकी बात ले बैठे महात्माजी।

'वह बैठा तो है।' इङ्गित की गयी दिशामें अवधेशने देखकर उत्तर दिया।

'देख, वह न नेती-धोती कर सकता, न कान बंद कर सकता और न माला पकड़ सकता।' महात्माजी समझाने लगे—'वह पढ़ा-लिखा है नहीं, इसलिये ज्ञानकी बात क्या जाने। परंतु वह मनुष्य है। मनुष्य-जन्म मिलता है भगवत्प्राप्तिके लिये ही। भगवान्ने उसे मनुष्य बनाया, इस स्थितिमें रक्खा। इसका अर्थ है कि वह इस स्थितिमें भी भगवान्को तो पा ही सकता है।'

'निश्चय पा सकता है।' अवधेशने दृढ़तापूर्वक कहा।

'तब तुम्हें यह क्यों सूझा कि भगवान् घरसे भागकर वनमें ही जानेपर मिलते हैं।' महात्माजीने हाथ पकड़कर अवधेशको पास बैठाया—'क्यों समझते हो कि गृहस्थ होकर तुम भगवान्से दूर हो जाओगे। जो सब कहीं है, उससे दूर कोई हो कैसे सकता है।'

'मैं आज्ञा पालन करूँगा।' अवधेशने मस्तक रक्खा संतके चरणोंपर। उसका स्वर कह रहा था कि वह कुछ और सुनना चाहता है—कोई साधन।

'भगवान् साधनसे नहीं मिलते।' महात्माजी बोले—'साधन करके थक जानेपर मिलते हैं। जो जहाँ थककर पुकारता है—'प्रभो! अब मैं हार गया, वहीं उसे मिल जाते हैं। या फिर मिलते उसे हैं जो अपनेको सर्वथा उनका बनाकर उन्हें अपना मान लेता है।'

'अपना मान लेता है?' अवधेशने पूछा।

'संसारके सारे सम्बन्ध मान लेनेके ही तो हैं।' महात्माजीने कहा—'कोई लड़की सगाई होते ही तुम्हें पति मान लेगी और तुम उसके पति हो जाओगे। भगवान् तो हैं सदासे अपने। उन्हें अपना नहीं जानते, यह भ्रम है। वे तुम्हारे अपने ही तो हैं।'

'वे मेरे हैं—मेरे भगवान्!' पता नहीं क्या हुआ अवधेशको। वह वहीं नौकामें बैठ गया—बैठा रहा पूरे दिन। लोग कहते हैं—कहते तो महात्माजी भी हैं कि अवधेशको एक क्षणमें भगवत्प्राप्ति हो गयी थी।

भगवान्का मङ्गल-विधान

[मिलन-मुहूर्त]

(लेखक—प्राध्यापक श्रीशिवप्रसादजी शुक्ल 'शास्त्री' एम्० ए०, साहित्यरत्न)

दिनकरकी प्रखर रश्मिमालासे प्रतप्त होकर चरवाहे भागीरथीके पुण्यतोयमें स्नानार्थ प्रविष्ट हो गये। गोसमुदायने सुखद तरु-छायाके नीचे बैठकर जुगाली करना प्रारम्भ कर दिया। भैंसें तो ग्वालोंसे भी पूर्व जलकेलि-सुखका अनुभव करनेके लिये जलमें प्रवेश कर चुकी थीं। जाह्नवीकी धारा अविरल गतिसे प्रवाहित हो रही थी। अकस्मात् एक चरवाहेकी दृष्टि एक बहती हुई वस्तुपर पड़ी, उसके बतानेपर दूसरेने, जो कुछ आयुमें बड़ा था, कहा—'अरे, यह तो शव है, इसमें क्या आश्चर्य?' तीसरेने कहा—'लाओ इसे निकालें' 'व्यर्थ, क्या लाभ?' परंतु बहुमतसे शव निकालना ही निश्चित हुआ। एकने तैरकर शव पकड़ लिया, निकालकर बाहर ले आया। 'अरे कोई युवती है, बेचारी असमयमें ही भगवान्के यहाँ बुला ली गयी।' इसके पेटमें पानी भर गया है, 'यह तो हाथ हिला रही है—शायद अभी चेतना है।' सहीमें ही विधिकी इच्छा, कुछ उपचार करनेपर वह षोडशवर्षीया तरुणी उठकर बैठ गयी, इधर-उधर आश्चर्यचकित होकर देखने लगी, कुछ देर बाद रोना प्रारम्भ कर दिया उसने।

परम सुन्दरी बालिकाको देखकर सभी ग्वाले 'इसे मैं अपनी स्त्री बनाऊँगा' कहकर परस्पर झगड़ने लगे। वर्षोंसे एक साथ मिलकर रहनेका भाव समाप्त हो गया, रोटी बाँटकर खानेवाले ग्वाले मायासे विमोहित होकर संसारके इस भ्रम-जालमें फँसकर एक दूसरेके प्राणोंके घातक बननेके लिये आतुर हो उठे। ठीक, इसी समय एक महात्मा उपस्थित हो गये, सौम्य-स्वरूपने गम्भीर स्वरमें कहा—'अरे भले आदमियो, भगवान्से डरो, जिसे तुमने बचाया, वह तुम्हारी बहिन है, तुम, तुम···' इसके आगे वे कुछ कहते कि ग्वाले वहाँसे भग गये। बालिका उठकर महात्माके चरणोंमें गिर पड़ी। उन्होंने कहा—'बेटी! उठो, चिन्ता न करो, तुम हमारी कुटियापर चलकर रहो, स्वस्थ हो जानेपर स्वेच्छासे जहाँ चाहोगी, तुम चली जाना।' लड़कीको धैर्य बँधा, सान्त्वनापूर्ण शब्दोंने एक बार फिर उसकी पलकोंको गीला कर दिया। महात्माने आँख मूँदकर एक क्षण प्रभुका ध्यान किया, फिर एक ओर चल दिये। बालिका भी उनके पीछे-पीछे हो ली। मुनिवर अपनी ईश्वर-भक्तिमें लगे रहते। बालिका सदैव घूँघट निकाले रहती। अभी उस

दुःखोंका अन्त न हुआ था । एक दिन महात्माने बड़े प्यारसे कहा—'बेटी ! तुम यदि अपने घर जाना चाहो तो तुम्हें छोड़ आऊँ ?' बालिकाने कहा—'इस नश्वर संसार-में है ही क्या ? मेरे माता-पिता और छोटी बहिन भी मेरे साथ ही बह गयी थीं, अब तो मुझे अपने ही चरणोंमें आश्रय दीजिये । अब आप मेरे पिता हैं। मैं कहीं नहीं जाना चाहती । हाँ, मेरे एक भाई विदेश पढ़ने गये थे, अब पता नहीं कहाँ होंगे ! मेरा पाणिग्रहण भी हो गया था, परंतु वे अब मुझसे स्नेह करते हुए भी दूर हैं।' मायापाशविमुक्त महात्मा उठकर बिना कुछ बोले आँखें बंद किये ही ध्यानके लिये चल पड़े ।

उन्नाव जिलेके रायपुर ग्रामके समीप ही ये दोनों रहा करते थे । बाबाके बागमें उनका सुन्दर आश्रम था । एक दिन आखेट करते हुए एक ताल्लुकेदार अपने दल-बलके साथ वहाँ पधारे, उनकी दृष्टि बालिकाको देखकर कुदृष्टिमें बदल गयी । उन्होंने महात्माको प्रलोभन देकर उस बालिकाको प्राप्त करना चाहा, किंतु महात्माजीके चरित्रने रईस महोदयको कुपित कर दिया । उन्होंने षड्यन्त्र रच दिया। एक दम्पतिसे उन्होंने न्यायालयमें दावा करवा दिया कि 'यह हमारी लड़की है । यह दुष्ट साधु भिक्षा माँगने आया करता था और इसे बहकाकर भगा लाया । इसका विवाह हमने अमुक रईसके साथ करनेका वचन दे दिया था ।' पुलिसने दोनोंको पकड़कर कारागारमें बंद कर दिया । यथा-समय न्यायाधीशके सम्मुख उपस्थित होकर महात्माने बालिका-के प्राप्त होनेकी सच्ची कहानी सुना दी, साथ ही उन्होंने यह भी कहा—'ईश्वर जानता है, कुदृष्टि तो दूर रही, मैंने आजतक इस लड़कीका मुखतक नहीं देखा ।' लड़की भी घूँघट निकाले खड़ी थी । सरकारी वकील और न्यायाधीश दोनों ही विचित्र स्थितिमें थे । कहानी इस प्रकार गढ़ी गयी थी कि अविश्वास करना कठिन हो रहा था । पुलिस-वाले भी उत्कोचके प्रलोभनसे रईसका ही साथ दे रहे थे ।

'अच्छा बेटी ! तुम ठीक-ठीक बताओ क्या बात है ?' न्यायाधीशने कहा । लड़की हिचकियाँ भर-भरकर रोने लगी। अत्यधिक धीरज बँधनेके बाद उसने कहा—'मैं क्या बताऊँ ? मेरे ऊपर तो ईश्वर ही नाराज है । मैं मुजफ्फरनगर जिलेके सुप्रसिद्ध वकील स्वर्गीय शंकरप्रसादजीकी लड़की हूँ—' न्यायाधीशकी आँखें खुली-की-खुली रह गयीं ? लक्ष्मी ? लक्ष्मी ? हे ईश्वर ! मैं क्या देख रहा हूँ, मेरी बहिन लक्ष्मी ? उसने अपने भाईका स्वर पहचानकर घूँघट खोल दिया । 'मैं ही हूँ हतभागिनी भाई साहेब ! तुम इंग्लैंडसे कब आये ?' महात्माकी आँखोंसे भी अश्रुधारा बह रही थी, भाई और बहिन न्यायालयमें गले मिल रहे थे । न्यायाधीश अमरनाथ महात्माके चरणोंमें गिर पड़े । भगवान्‌की बड़ी कृपा है । तुमने हमारी इज्जत रख ली । महात्माने कहा—'मैं भी तुम्हारा बड़ा भाई काशीनाथ हूँ, जिसे पिताजीने अयोग्य होनेके कारण घरसे निकाल दिया था, मुझे अपने कर्मोंके लिये पश्चात्ताप था, परंतु अब नहीं ।' पार्श्वस्थित सरकारी वकील मोहनलालकी भावभंगिमा दर्शनीय थी । वे इस लड़कीके पति थे । उन्हें यह नहीं मालूम था कि एक दिन वकालत घरमें ही करनी पड़ेगी । न्यायाधीशने केवल एक बार मोहनलालकी ओर देखा, फिर अपने बड़े भाईसे कहा—'ये हैं लक्ष्मीके पति ।' महात्माने दोनोंका हाथ लेकर एक दूसरेको पकड़ा दिया । तीनों ही हाथ जोड़े खड़े थे । महात्माने कहा—'आज मेरी साधना सफल हो गयी । इतना अवश्य ध्यान रखना ! इन निरीह ताल्लुकेदार-जैसे पापियोंको तुम कोई दण्ड न देना । ईश्वर स्वयं इनके कियेका फल देगा । अच्छा मैं जा रहा हूँ ।' इस मिलन-मुहूर्तपर सभी दर्शक उत्फुल्ललोचन थे ।

महात्माके चरण शीघ्र-शीघ्र पड़ रहे थे । लक्ष्मी अपने पति और भाईके साथ अपलक दृष्टिसे महात्माके चरण देख रही थी । भावोंका सागर उमड़ रहा था ।*

भवबन्धच्छिदे तस्यै स्पृहयामि न मुक्तये ।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते ॥ (श्रीहनूमतः)

जिस मुक्तिमें आप प्रभु हैं और मैं दास हूँ, यह भाव विलुप्त हो जाता है, भवबन्धनके छेदनके लिये मैं उस मुक्तिकी इच्छा नहीं करता ।

---

* कहा जाता है कि कहानीमें लिखित घटना सच्ची है । केवल नाम-जाति आदि बदले हुए हैं ।

ममता तू न गयी मेरे मन तें !

[मोह, कारण और निवारण]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[भाग ३०, सं० ६, पृष्ठ १०१४ से आगे]

(३)

धन-सम्पत्ति, रुपया-पैसा, जर-जमीन, माल-मिलकियतका मोह तो इतना जबर्दस्त है कि कुछ न पूछिये ।

मकानकी एक-एक ईंटसे मोह होता है ।

दमड़ी-दमड़ी, छदाम-छदामतककी चीजोंके लिये हम कट मरते हैं। कोई ले तो जाय, हम उसका खून पी लें !

हमारी सम्पत्ति, फिर वह फटी-गुदड़ी, फूटा कमण्डलु, टूटा तवा अथवा फूटी छानी ही क्यों न हो, हमारे भयंकर मोहका कारण रहती है । वह हमारी है, हम उससे चिपटे बैठे रहते हैं ।

सम्पत्ति हमारी है। उसपर 'हमारी', 'मेरी', 'अपनी' का ठप्पा लगा है । मजाल क्या कि कोई उसकी ओर ताक तो जाय ।

× × ×

सेठजी सोते हैं तो भी उन्हें चिन्ता रहती है कि अमुक कम्पनीके शेयर गिर रहे हैं, अमुकके चढ़ रहे हैं, अलसीमें घाटा आ रहा है, रूईमें मुनाफा हो रहा है । कल बम्बईकी हुंडी सिकारनी है, परसों कलकत्ते-की । इस बैंकमें इतना बैलेंस है, उसमें इतना । इस मिलको खरीद लूँ तो सालाना कई लाखकी आमदनी बढ़ जाय । उस बँगलेको उठा दूँ तो इतना रुपया आने लगे !....।

रात-दिन उन्हें रुपयेकी ही चाट लगी रहती है । दिनमें सैकड़ों बार खुश होते हैं, सैकड़ों बार दुखी !

कौन जाने मरनेके बाद भी वे अपनी जायदादपर नाग बनकर न आ बैठें ।

× × ×

परिग्रहका मोह किसे नहीं होता ।

अपरिग्रहका दम भरनेवाले भी परिग्रहके मोहमें फँसे दीख पड़ते हैं ।

नागा बाबा हैं और सवार हैं हाथीपर !

कहते हैं कि एक बार स्वामी दयानन्द सरस्वतीके पास दो लंगोटियाँ थीं ।

स्नानसे निवृत्त हो ध्यान करने बैठते तो बराबर यही मोह सताता कि बंदर आकर दूसरी लँगोटी उठा न ले जाय !

परेशानी बहुत बढ़ी तो दूसरी लँगोटी उठाकर गङ्गा-में फेंक दी ।

× × ×

पर अब, दूसरी समस्या आ खड़ी हुई ।

एक लँगोटी शिष्टता और शालीनताका ध्यान ।

दिनमें अब स्नान करें तो कैसे ?

दूसरे दिनसे उन्होंने इतने तड़के नहाना शुरू किया कि सूर्योदयके पहले ही भींगी लँगोटी सूख जाय ।

अन्य संन्यासियोंने सुना तो उन्हें यह बात जँची ही नहीं ।

सोचने लगे कि इतने तड़के हरद्वारकी इस कड़ाके-की सर्दीमें दयानन्द नहाता तो क्या होगा, बहाना बनाता है !

दूसरोंका भंडा फोड़नेके लिये हमारे मलिन मन आकुल रहते ही हैं, भले ही उसके लिये कुछ कष्ट भी उठाना पड़े !

एकाध साधुने असलियतका पता लगानेका बीड़ा उठाया ।

× × ×

बात सही निकली तो लोगोंने दाँतोंतले उँगली दबायी ।

पूछा—दयानन्द ! तुझे सर्दी नहीं लगती ? हम तो इतने कपड़े कसे रहते हैं, फिर भी ठिठुरते रहते हैं ।

स्वामीजी बोले—'मैंने इसका अभ्यास कर लिया है । आप कड़ी सर्दीमें भी मुँह खुला रखते हैं । मुँहके कोमल चमड़ेपर आपको सर्दी नहीं लगती । मैंने सारे शरीरको ऐसा बना रक्खा है !'

× × ×

इस मोहके चलते कितने ही त्यागी और महात्मा जंगलमें जाकर भी फँस जाते हैं ।

साम्राज्यत्यागी, परम ज्ञानी भरतमुनिको इस मोहके ही कारण मृगयोनिमें जन्म लेना पड़ा !

जंगलमें पहले 'तरुतल वासा' रहता है, फिर झोंपड़ी पड़ती है, फिर गाय आती है, फिर धीरे-धीरे आश्रम 'मठ' बन जाता है । बड़े-बड़े महलोंके नाम होते हैं—साधन-कुटीर, त्यागाश्रम आदि-आदि ।

अपरिग्रहके नामपर परिग्रहकी होड़ लग जाती है !

आवश्यक और अनावश्यक असंख्य वस्तुएँ हम रोज जुटाते चलते हैं ! मोह दिन-दिन बढ़ता चलता है ।

× × ×

कुर्सी ? कुर्सीका मोह तो बड़े-बड़ोंसे पानी भराता है !

अङ्ग-अङ्ग जवाब दे रहा है, स्मरणशक्ति ढीली पड़ रही है, कार्यक्षमता घट रही है पर हम हैं कि कुर्सीसे चिपके बैठे हैं ।

हमसे कहीं अधिक योग्य, दक्ष, कुशल, कर्मठ व्यक्ति मैदानमें हैं, मौका मिले तो वे हमसे भी अधिक जिम्मेदारीसे हमारा काम सँभाल लें, परंतु हम उन्हें मौका ही नहीं दे सकते !

हमें लगता है कि हमने इन्हें मौका दिया कि हमारी बधिया बैठी, । फिर तो कोई भूलकर भी हमारा नाम न लेगा । हमारी सारी शान धूलमें मिल जायगी !

अब या तो मौत ही हमें खींचकर कुर्सीसे उठा ले जाय या विद्रोही नया खून हमारी कुर्सी उलट दे, तभी हम कुर्सी छोड़ेंगे ।

प्रेमसे, दूसरोंको आगे बढ़ानेके लिये, देश, समाज और संस्थाके हितकी दृष्टिसे कभी हम सोचना भी नहीं चाहते कि हमारा कर्तव्य क्या है !

मोहकी कैसी मोटी पट्टी है यह !

× × ×

मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठाका मोह किसे नहीं सताता ?

लोग हमारा आदर करें, हमारे चरणोंमें नतमस्तक हों, बड़े-बड़े लोग हमसे मिलनेके लिये लालायित रहें, प्रतिष्ठापूर्ण उपाधियाँ हमारे नामके साथ जुड़ जायँ, जनता हमें साधारण श्रेणीसे ऊपरका आदमी समझे—इस प्रकारके छिछले भाव हमसे क्या नहीं कराते ?

× × ×

मान-प्रतिष्ठाके लिये हम निन्द्य-से-निन्द्य कर्म करनेमें नहीं झिझकते !

इसके लिये मौका पड़े तो हम छल-प्रपञ्च, झूठ-बेईमानी, अन्याय-अत्याचार—कुछ भी करनेसे बाज नहीं आते ।

इसके लिये हम चुनावमें फर्जी वोट डलवाते हैं, चाँदीकी जूतीसे मतदाताओंको खरीदते हैं, साम-दान-दण्ड-भेद—सबका प्रयोग करते हैं, रिश्वत देते हैं, डालियाँ भेजते हैं, खुशामद करते हैं !

मोहका कैसा वीभत्स और घृणित रूप !

× × ×

गरीब और साधनहीन व्यक्ति महत्त्वाकाङ्क्षाके फेरमें पड़कर यदि इस तरह गन्दे-हथकंडे काममें लायें तो कोई बात भी है, पर ऐसा नहीं है । बड़े-बड़े साधनसम्पन्न

व्यक्ति भी मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठाके मोहमें पड़कर इतने नीचे उतर जाते हैं।

इसके चलते दलबन्दियाँ चलती हैं, प्रतिद्वन्द्विताएँ चलती हैं, विरोधियोंको पछाड़नेके लिये गन्दे-से-गन्दे तरीके काममें लाये जाते हैं।

मजेकी बात तो यह कि बड़े-बड़े साधु-संन्यासी, भक्त-महात्मा, विरक्त और ज्ञानी कहानेवाले और देशके लिये सर्वस्व अर्पण कर देनेवाले बलिदानी नेता भी इसके अपवाद नहीं।

तभी तो तुलसी बाबाको कहना पड़ा था—

कैसे दउँ नाथहिं खोरि ?
बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि ॥

× × ×

नामका मोह किसे नहीं ?

जिन्हें कुछ न चाहिये, उन्हें भी नाम तो चाहिये !

रुपया-पैसा, धन-दौलत—कुछ न मिले, पर नाम मिले। इसके लिये लोगोंमें जैसी बेचैनी देखनेमें आती है, वैसी शायद ही और किसी बातके लिये हो।

× × ×

नामके लिये लोग दान करते हैं।

बाग-बगीचा लगाते हैं।

कुआँ-बावली खुदवाते हैं।

प्याऊ-पोसरा बैठाते हैं।

धर्मशाला, मन्दिर, स्कूल, कालेज, अस्पताल बनवाते हैं।

नामके लिये पचपन सालके बुढ़ऊ सिरपर मौर सजाते हैं। बेटे होंगे, पोते होंगे—नाम चलेगा !

रुपया-पैसा, धन-दौलत है, पर आँगन सूना है, कलेजा मुँहको आता है। यह देख लोग दूसरेका लड़का गोद लेते हैं, सीधे नहीं मिलता तो अस्पतालसे लड़केकी चोरी कराते हैं या अनाथालयसे उठा लाते हैं !

कैसे भी हो, नाम तो चले !

× × ×

अभी एक पुस्तक मेरी नजरसे गुजरी।

लिखी किसीने, नाम था उसपर किसीका। पुस्तकमें लेखकका कहीं भूलसे भी उल्लेख नहीं !

लेखककी पत्नी मेरे सामने थी।

मैंने चुटकी ली—इसमें तो भूमिका तकमें जिक्र नहीं !'

बोलीं—हमलोग तो गुप्त 'दानी' हैं ! 'बधाई है—' मैंने कहा।

× × ×

नामके लिये लोग तस्वीरें खिंचाते हैं, अखबार निकालते हैं, किताबें छपाते हैं, वक्तव्य निकालते हैं।

नामके लिये लोग हिमालयपर चढ़ाई करते हैं, आकाशमें उड़ते हैं, समुद्रकी तलीमें घुसते हैं, ध्रुवकी खोज करते हैं। और क्या नहीं करते ?

× × ×

एक नेताजी हैं। बड़े त्यागी, बड़े देशभक्त।

एक राज्यके मुख्य मन्त्री रह चुके हैं।

पर नामकी हविस बुढ़ौतीमें भी पीछा नहीं छोड़ती।

कोई पत्रकार पैर छूकर उन्हें प्रणाम करे तो बड़े खुश होते हैं। मिलते ही कहेंगे—'तुमने फलां जगहकी मेरी स्पीच तो ठीकसे छापी, पर ब्लाक नहीं दिया ! अबकी दफा ख्याल रखना ! है कोई, जरा नाश्ता तो लाओ इनके लिये।'

× × ×

और तो और, मरकर भी नामका मोह रहता है।

'है संगे मजारपर भी तेरा नाम रवां,
मर कर भी उमेदे जिन्दगानी न गयी ॥'

तभी तो ताजमहल देखकर भगवतीचरण वर्मा कहते हैं—

'ओ रज-कणके ढेर, तुम्हारा है विचित्र इतिहास !'

× × ×

भोगके बाद त्याग

[भोगो, फिर भागो]

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

यह जीवन स्वार्थप्रधान कहा जाता है। लोग स्वार्थवश ही सब कुछ करते हैं। झूठ, चोरी, कपट, डाका, हत्या और राष्ट्रोंके स्वार्थमें बाधा पड़नेसे महायुद्ध, सर्वनाशी युद्ध हो जाता है। सारा इतिहास स्वार्थ-संघर्षकी परम्परासे लहूलुहान है।

जब घरमें, गाँवमें पेट नहीं भरता तो व्यक्ति घर-गाँव छोड़कर देश और परदेश चला जाता है। भारतको गजनवी और गोरीने लूटा। मुगलोंने अपना पेट पालनेके लिये यहाँ राज्य जमाया और अंग्रेजोंने भी, परंतु अब दोनों नहीं हैं।

स्वार्थका भी अन्त होता है। पेट भर जानेपर भूख शान्त हो जाती है, परंतु ग्रहण किये हुएका त्याग अनिवार्य होता है। जो लोग दिनभर अंट-शंट चीजें स्वादवश या वासनावश खाते-पीते, पेटको भरते रहते हैं और उसे त्याग करने, शौच करनेका समय टालते रहते हैं, उन्हें कब्ज हो जाता है, उनकी आँतें सतत फैली रहनेके कारण, संकोचकी शक्ति खो बैठती हैं, जिससे मल-त्यागमें अधिक समय लगता है और यहाँ संचित विकार अनेक अङ्गोंमें ऊर्ध्वगत होकर अनेक रोग उत्पन्न करता है।

सुस्वादु भोजन करने और पेट भरनेसे जो शान्ति मिलती है, उससे भी अधिक शान्ति मल-त्यागके पश्चात् होती है; क्योंकि वह त्यागकी शान्ति है। जो अनावश्यक है, त्याज्य है, उसे रोका जाय, न त्यागा जाय, तो वह एक दिन इतना भयंकर हो जायगा कि जान ले बैठेगा। संसारमें अल्पायुमें ही बूढ़े और रोगी होकर लोग क्यों मर जाते हैं? व्यसन-वासनाओंमें फँसे रहनेके कारण उनके भीतर इतना विष-विकार संचित हो जाता है, त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) एकत्रित हो जाते हैं कि प्राण-संचारके लिये शुद्ध स्थान नहीं रह जाता। यह स्वार्थकी पराकाष्ठाका परिणाम है।

स्वार्थकी भी सीमा होती है, उसका अन्त होता है। ग्रहण किये हुएको त्यागना एक प्राकृतिक, स्वाभाविक, आवश्यक कर्म है। स्वार्थ तो जीवनका एक साधन है, परंतु त्याग स्वयं जीवन है। यहाँतक कि उपवासके द्वारा भी मनुष्य बहुत दिनोंतक जीता रहता है और उपवास-कालमें शरीरसे रोज मल (स्वार्थवश संचित द्रव्यका विकार) निकलता रहता है। जीनेके लिये त्याग परम आवश्यक है; शारीरिक, मानसिक और सम्पत्तिका त्याग भी।

शारीरिक त्यागकी बात हो चुकी।

मानसिक त्यागमें निर्लोभवृत्ति, आत्मभाव और सेवावृत्ति विशेष है। केवल अपने लिये ही जीना कोई जीवन नहीं। प्राणिमात्र समाजप्रिय है, खासकर मानवकी तो अकेलेकी कहीं गुजर नहीं, सभ्य दशामें, अकेले वह अपने लिये सब कुछ कर सकनेका सामर्थ्य नहीं रखता। किसी विशाल एकान्त प्रान्त अथवा द्वीपमें उसे खाने-पीनेका साधन और आराम होते हुए भी वह कुछ समयमें सूखकर मर जायगा। जीवनकी श्रृङ्खला संघटनमय है। लोग यद्यपि कहते हैं कि संसारमें सब कुछ आचार, सदाचार और दुराचार स्वार्थवश होता है, वास्तवमें स्वार्थ है कहाँ? यहाँ तो सब व्यवहार-व्यापार परस्परके लिये परस्परके द्वारा होता है। पेड़ उगते, बढ़ते, फूलते और फलते हैं। वे मानवमात्रको फल देते हैं, छाया देते हैं, सूखकर मरकर भी लकड़ी देते हैं, जिससे मनुष्य मकान बनाता है, भोजन बनाता है और नदी, झील, सागरको पार करनेके लिये नौकाएँ बनाता है। पेड़का अस्तित्व स्वयं अपने हित किस कामका? सोना, चाँदी, हीरा, मोती स्वयं अपने किस कामके? मानव भी अकेले स्वयं किस कामका? और स्त्री स्वयं अकेले अपने किस कामकी? परस्पर सहयोगसे दोनों संसार चलाते हैं। माता-पिता अपने पुत्र-पुत्रीके हित सब परिश्रम और स्वार्थ-संग्रह करते हैं और उनके जीवनकी सीमा पूरी हो जानेपर चल बसते हैं। पुत्र-पुत्री भी उसीके अनुसार अपना-अपना संसार चलाकर चल बसते हैं। संगृहीत सम्पत्ति और प्रिय सम्बन्धी यहीं रह जाते हैं। कोई स्थिर नहीं।

इस अस्थिरता और नश्वरताके अनुभव और भावनासे विवेकी पुरुषोंमें निर्लोभवृत्ति, सर्वात्मभाव और सेवावृत्ति उत्पन्न होती है। वे बड़े-बड़े काम कर शरीरके मर जानेपर भी अमर बन जाते हैं। उस मनुष्यकी मृत्युपर उसकी अमरताका इतिहास है, जिसने त्याग किया।

स्वार्थके भ्रममें बहुतसे अनाचार हुए हैं और होते हैं। लोगोंने प्रभुता बढ़ानेके लिये बड़े-बड़े देशोंपर आक्रमणकर

अपना आधिपत्य जमाया, धन-वैभव संग्रह किया, अपने लिये पक्के महल-किले बनाये, परंतु अपना कच्चा शरीर कायम न रख सके और श्मशानमें सो गये, भस्म हो गये, राख-मिट्टी हो गये। अब वहाँ उनकी धूल, हड्डियोंका भी पता नहीं। स्थानको लोग रौंदते हैं। वहाँ घास उगती है या वह ऊसर भूमि है।

इस विषयमें जितना भी कहा-सुना जाय, सब थोड़ा है और ऐसे मरे हुओंकी चर्चा व्यर्थ है। इन्होंने संसारमें अपना कौन-सा सत्कर्म छोड़ा? क्या प्रेरणा दी? केवल अपना दूषित चरित्र!

संसारमें बहुतसे लोगोंने बड़े-बड़े साहसके काम किये हैं, बड़े-बड़े विचित्र वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं, कलात्मक कार्य किये हैं, अनुभवपूर्ण उपदेश दिये हैं, अपनी अपार सम्पत्ति दानमें दी है, अपना जीवन समर्पण किया है। नाम गिनानेके लिये न तो यहाँ समय है, न लिखनेको स्थान। आत्मभावको बिखेरनेके लिये गृहस्थ भोगकर, भागकर वानप्रस्थ और संन्यासकी व्यवस्था हमारे धर्मके अन्तर्गत जीवनकी व्यवस्थाका उत्तरार्ध इसी निमित्त सुरक्षित है। केवल अपने घरको घर समझनेकी संकीर्ण भावनासे मुक्त होकर व्यक्ति तब विस्तृत आत्मभाव लेकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' रूप बन जाता है।

स्वार्थ क्या है और कहाँ है?

जार्ज ईस्टमैन, अमेरिकन, फोटोग्राफ फिल्म और कोडक केमराके आविष्कारक थे। इन्होंने अपने जीवनमें लगभग अस्सी करोड़ रुपया शिक्षा और चालीस करोड़ रुपये रोगियोंकी चिकित्साके निमित्त दान दिया।

इंग्लैंडमें ग्यारहवीं शताब्दीमें एक (लार्ड) जागीरदारकी पत्नीने तो आत्मभाव-सेवाबुद्धिमें अपनी लज्जातक त्याग दी। इतिहासमें ऐसा किसी स्त्रीने न किया होगा। लार्डने प्रजापर कुछ विशेष प्रकारके 'कर' लगा रखे थे। उसकी पत्नी सर्वसुन्दरी थी, साथ ही भक्त और परोपकारी चित्तकी थी। अतएव जनप्रिय थी। उसने प्रजापरसे कुछ 'कर' उठा लेनेके लिये पतिसे अनुरोध किया। पतिने कहा—तुम बिल्कुल नग्न होकर शहरमें निकलो, तभी यह टैक्स माफ कर सकता हूँ।

और प्रजाके हित वह महिला सचमुच नग्न होकर शहरमें घूम गयी।

स्वीडनके इंजीनियर, डॉ० एल्फ्रेड नोवेलकी मृत्युके पश्चात् अब भी उनकी छोड़ी हुई समर्पित सम्पत्तिसे प्रतिवर्ष, विश्वके महान् कलाकारों, लेखकों और आविष्कारकोंको इनाम मिलता रहता है और मिलता रहेगा।

अमेरिकाके विश्वविख्यात तैलव्यवसायी जान राकफेलर गरीबीसे उठकर परिश्रम और उद्योगसे अपार सम्पत्तिशाली हो गये हैं; संसारके सर्वश्रेष्ठ धनी थे और उन्होंने दो अरब रुपयेसे अधिक शिक्षा-प्रचार, चिकित्सा आदिके लिये दान दिया।

डायोजिनीस ग्रीस देशका दार्शनिक था, जो संसारकी गरीबी और दुःख देखकर इतना निःस्पृही हो गया था कि उसने अपने लिये कभी कुछ संग्रह नहीं किया। कोई झोपड़ी भी नहीं बनायी थी। मोटा चिथड़ा पहनता, रूखा भोजन करता था, पानी पीनेको एक कठौता (काठका बर्तन) रखता था, परंतु उसे एक ऐसा आदमी मिला जिसके पास पानी पीनेको कोई बर्तन न था, उसीको अपना कठौता दे डाला।

यह तो हुई विदेशी दानियोंकी बात।

महात्मा गाँधीने अपना सर्वस्व त्यागकर भारतको हजार वर्षकी गुलामीसे मुक्त किया, देशमें नया खून, नया तेज जगाया। हमारे देशके अनेकों उदार धनियोंने सर्वस्व दान कर दिया। यह हुई गृहस्थोंकी बात।

अपना आधा जीवन गृहस्थमें व्यय करके भारतमें यत्र तत्र सर्वत्र पुरातन सनातन-परम्परागत साधु-संन्यासी लोक-कल्याणहित अपना अनुभवपूर्ण साधनामय दिव्य ज्ञान निःस्पृह होकर जनतामें बिखेरते रहते हैं।

विचार कीजिये—निश्चय कीजिये, आप जो कुछ कर रहे हैं उसका क्या हेतु है, क्या मूल्य है, क्या सार्थकता है, कैसी स्थिरता है, कितनी व्यापकता है और कितना श्रेय है—इत्यादि।

आपका यह अमूल्य किंतु अस्थिर जीवन कितना और क्या ग्रहण करता और त्यागता है? आपने अबतक क्या कमाया और क्या दिया है? और अपने पश्चात् संसारको क्या कुछ दे जायँगे? और उससे संसारका क्या हित होगा? यह शरीर भी जब त्याज्य है, फिर क्या ग्राह्य है? इसीलिये भोगो, फिर भागो, त्यागो।

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्— (गीता

त्यागके अनन्तर ही शान्ति मिलती है।

चित्राङ्कन

श्रीमती मूरति अंकित करती।
मधुर तूलिका कोमल करमें लै नाना रँग भरती ॥
विविध भाँति अति मधुर मनोहर रूप बनाती जाती।
तन्मय मन, दृग-दृष्टि-अचञ्चल, उमँग न हृदै समाती ॥
नव-नीरद-सुचि-नील-स्याम तनु उज्ज्वल आभा आँकी।
भाल विसाल तिलक मृग-मदके, भ्रकुटि मनोहर बाँकी ॥
सरस नयन सोभाके आकर मोहन आँजे अंजन।
अतिसय चपल चोर चित-वितके सुर-ऋषि-मुनि-मन रंजन ॥
मुख मुसुक्यान, नासिका नीकी, कानन कुंडल झलकैं।
केस कृष्नघन घूँघरवारे, इत उत बिथुरीं अलकैं ॥
मनिमय मुकुट मयूर-पिच्छ-जुत सुंदर सिर पै साजै।
कंबु कंठ बनमाल विराजै रतन-हार उर राजै ॥
पीत बसन दमकत दामिनि-सो कटि किंकिनि अति सोहै।
निरखि निरखि निज अंकित मूरति भामिनि निज मन मोहै ॥
लई तूलिका खींचि अचानक भई ससंकित भारी।
चरन उभय आँके नहिं पियके गहरी बात बिचारी ॥
भाजि जायँ जीवनधन पाछैं जो चरननके पाये।
तौ फिर कहा बनैगो मेरो यहै सोच उर छाये ॥
ठाढ़े, निरखि, रहे मनमोहन प्रीति-रीति अति पावन।
प्रगट भये, बिहँसे, पुलकित तनु भई देखि मनभावन ॥

—अकिंचन

निवेदन

भारत धर्मप्रधान देश है, यह संतों-महात्माओंकी पवित्र लीला-भूमि है, भगवत्प्राप्तिके साधक विभिन्न सम्प्रदायोंके द्वारा इस देशमें चिरकालसे पवित्र भगवद्भावोंका प्रचार होता आया है। महान् दार्शनिक ब्रह्मनिष्ठ परम विद्वान् आदर्श चरित्र आचार्योंके द्वारा इन सम्प्रदायोंका प्रवर्तन और संचालन होता आ रहा है, इनके द्वारा प्रवर्तित विभिन्न सम्प्रदायोंमें अपनी-अपनी विशिष्ट उपासना-पद्धति चली आती है और उन-उन सम्प्रदायोंके अनुयायी लोग बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे अपने सम्प्रदायकी उपासना-पद्धतिके अनुसार उपासना करके अपने जीवनको पवित्र करते आये हैं। वेद, पुराण, स्मृति, इतिहास आदि शास्त्रोंके अनुसार प्रचलित सभी सम्प्रदाय पवित्र सनातन-धर्मके अन्तर्गत हैं, सभी महत्त्वपूर्ण हैं और इनसे जगत्‌का महान् उपकार हुआ था तथा हो रहा है। इनमें प्राचीन पद्धतिके अनुसार प्रचलित मन्त्र-दीक्षा, भगवत्प्रसाद आदिके प्रति हमारा कोई भी विरोध या आक्षेप नहीं है तथा जगत्‌का उपकार करनेवाले ऐसे सभी सुयोग्य आदर्श चरित्र संत-महात्माओंको, आचार्योंको हम पूज्य-दृष्टिसे देखते हैं और अपनेको उनका दास समझते हैं।

रही गुरुके सम्बन्धकी बात, सो संसारमें छोटा-सा-छोटा कार्य भी बिना गुरुके सम्पन्न नहीं होता, प्रत्येक कार्यको सीखनेके लिये अनुभवी गुरुकी आवश्यकता होती है, फिर परमार्थके या आत्मकल्याणके मार्गमें गुरुकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा मानना और कहना कभी युक्तिसंगत नहीं है, गुरु तो सभी जगह चाहिये, पर इतना अवश्य विचारणीय है कि परमार्थमार्गका गुरु वही होता है जो शिष्यके अज्ञानान्धकारको हरकर ज्ञानकी दिव्य ज्योति प्रदान करे और भगवत्प्राप्तिके पावन पथपर अग्रसर करनेमें समर्थ हो।

पिछले दिनों 'कल्याण' में 'स्त्रीदीक्षा' के सम्बन्धमें एक लेख प्रकाशित हुआ था और कुछ ऐसी घटनाएँ भी छपी थीं, जिनमें उन धूर्तोंकी काली करतूतोंका वर्णन था, जो संत न होते हुए ही संतोंके नामसे दुराचार करके उनको बदनाम करते हैं। इन लोगोंसे जनताको सावधान किया गया था। ऐसे लोग संत-महात्मा या आचार्य हैं ही नहीं। अतः इसमें हमारा उद्देश्य संत-महात्मा और आचार्योंपर लाञ्छन लगाने या उन्हें बदनाम करनेका कदापि नहीं था। हमारा उद्देश्य तो संत-महात्मा बने हुए, संत-महात्माओं-की वेश-भूषा धारणकर अपना नीच स्वार्थ सिद्ध करनेवाले इन लोगोंसे जनताको सावधान करनेका था। न वह पवित्र संत-समाज या गुरु-समाजपर आक्षेप था, न उनपर आक्षेप करनेकी हमारी कल्पना ही थी। तथापि हमारे उन घटना-प्रकाशनसम्बन्धी तथा स्त्रीदीक्षा-सम्बन्धी लेखसे अनुमान होता है कि कुछ संतों और गुरुजनोंको क्षोभ हुआ है। ऐसा हमें एक आचार्य महानुभावके तथा अन्य कुछ सज्जनोंके पत्रोंसे मालूम हुआ है। उन लोगोंने इसे हमारी भूल बताकर क्षोभ प्रकट किया है, अतः हमारे किसी कार्यसे यदि संत-समाज और गुरुजनोंके चित्तमें कष्ट पहुँचा हो तो हम उसके लिये उनसे सविनय क्षमा-प्रार्थना करते हैं और हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि पवित्र संत-समाज या पवित्र गुरुसमाजसे हमारा न कोई विरोध था, न है। हम उनको सदा ही परम पूज्य तथा सनातनधर्मका रक्षक मानते हैं और सादर प्रणाम करते हैं।

इस स्थितिमें हम आज यही उचित समझते हैं कि ईश्वरकी गुणमयी सृष्टिमें इस समय प्रायः सभी जगह त्रुटि और दोष देखे जाते हैं। भगवान्‌की कृपासे ही इन त्रुटियों तथा दोषोंका नाश हो सकता है। अतः हमको तो यही चाहिये कि हम अन्य किसीके दोषोंको न देखकर अपने दोषोंको देखें और उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करें, इसीके अनुसार करनेका हमारा विचार भी है। यदि कभी किसी ऐसे प्रसङ्गका प्रकाशित करना परम आवश्यक ही समझा जायगा तो हम यथासाध्य नम्रतापूर्ण ऐसा ही प्रयत्न करेंगे कि जिससे उसकी भाषा संत-समाजको कष्ट पहुँचानेवाली न हो। हम पुनः क्षमा-याचना करते हैं।

सम्पादक-**हनुमानप्रसाद पोद्दार**

क्षमा-प्रार्थना

मेरा एक लेख 'कल्याण' वर्ष २९ संख्या १८ में 'स्त्रियोंको गुरु बनाना आवश्यक नहीं' इस शीर्षकसे निकला था। यद्यपि उसके प्रकाशनमें साधु-समाजके प्रति मेरा कोई दुर्भाव नहीं था और न है तथापि उस लेखको पढ़कर कुछ ऐसे महानुभावोंके हृदयपर भी चोट पहुँची है, जिनको मैं हृदयसे पूज्य और श्रेष्ठ मानता हूँ। इस कारण अपनी गलतीका अनुभव करते हुए उन महानुभाव आचार्योंसे क्षमा माँगता हूँ, जिनको मेरे लेखसे कुछ भी कष्ट हुआ है। साथ ही यह भी निवेदन करता हूँ कि भविष्यमें कोई भी ऐसा क्रम, जिसके द्वारा किसीका अहित होना सम्भव हो, न करनेकी मुझे अन्तरात्मासे प्रेरणा मिली है।

कृपाभिलाषी—**हरिकृष्णदास गोयन्दका**

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके २४१ लेखोंका एक संग्रह
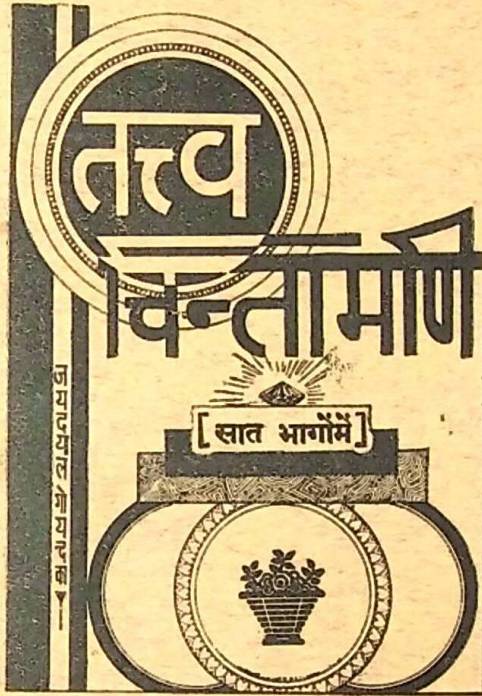
भाग १—में २९ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ३५२, चित्र तिरंगा १, मूल्य ॥=), सजिल्द ··· १)

भाग २—में ४८ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५९२, चित्र तिरंगा १, मूल्य ॥।=), सजिल्द ··· १।)

भाग ३—में ३३ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४२४, चित्र तिरंगे २, मूल्य ॥≡), सजिल्द ··· १-)

भाग ४—में ३१ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२८, चित्र तिरंगे ५, मूल्य ॥।-), सजिल्द ··· १≡)

भाग ५—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४९६, चित्र तिरंगे ४, मूल्य ॥।-), सजिल्द ··· १≡)

भाग ६—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४५६, चित्र तिरंगा १, मूल्य १), सजिल्द ··· १।=)

भाग ७—में ३२ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२०, चित्र तिरंगा १, मूल्य १=), सजिल्द ··· १॥)

इन सातों भागोंमें कुल लेख २४१, पृष्ठ ३३६८, चित्र तिरंगे १५, सातोंका मूल्य ५॥≡) सजिल्द ८॥-), डाकखर्च अजिल्दका ३॥), सजिल्दका ४)।

भाग १ से ५ तकके छोटे आकारके गुटका संस्करण भी मिलते हैं।

पाँचों भागोंकी कुल पृष्ठ-संख्या ३०६५, तिरंगे चित्र ६, पाँचोंका मूल्य १॥।), सजिल्द २॥।), डाकखर्च अजिल्दका १॥।=), सजिल्दका २=)।

इन लेखोंमें लौकिक, पारलौकिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक, नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक, सर्वतोमुखी उन्नति करानेमें सहायक एवं सभी वर्ण-आश्रम, स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओंके कामकी यथेष्ट सामग्री है। वस्तुतः ये लेख परमात्म-तत्त्वका यथार्थ ज्ञान करानेके लिये 'चिन्तामणि'के समान हैं।

हमारी पुस्तकें प्रायः छपे दामोंपर ही विक्रेतागण बेचते हैं, अतः पुस्तकें यहाँसे मँगवानेके पहले अपने गाँवके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इससे आपको भारी डाकखर्चकी बचत होगी।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कृपालु लेखकोंसे प्रार्थना

'कल्याण'में प्रकाशित तीर्थाङ्ककी सूचनाको पढ़कर बहुत-से लेखकोंने अनेक लम्बे-लम्बे लेख भेजनेकी कृपा की है। उनके इस कृपापूर्ण परिश्रमके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। 'कल्याण'के इस तीर्थाङ्कमें भारतवर्षके प्रायः सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तीर्थोंका परिचय देनेका विचार है। तीर्थ इतने अधिक हैं और उनके माहात्म्यादि इतने विस्तृत हैं कि यदि पूरा विवरण दिया जाय तो पाँच-सात तीर्थोंमें ही विशेषाङ्कका सारा कलेवर भर जाता है। इस दृष्टिसे यह सोचा गया कि लेख तो प्रायः इसमें रहेंगे ही नहीं। तीर्थोंके वर्णन भी परिचयात्मक रहेंगे, विस्तारसे नहीं। इसलिये जो अधिक विस्तारसे लिखे हुए लेख हैं, उनका सार ही इसमें दिया जायगा। इसके लिये लेखक महोदय परिस्थिति समझकर कृपापूर्वक क्षमा करें।

यह प्रार्थना की गयी थी कि जूनके अन्ततक ही 'तीर्थ-परिचय' मिलना चाहिये। पर हमारे कृपालु लेखक, जो 'कल्याण'को अपना ही समझते हैं, कृपापूर्वक अबतक लेख भेजते जा रहे हैं। लेख इतने अधिक आ गये हैं कि उनके छापनेकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती। अतएव लेखक महोदयोंसे प्रार्थना है कि अब और लेख न भेजें; क्योंकि उनका उपयोग होना बड़ा कठिन है। अपनी परिस्थितिके लिये मैं पुनः करबद्ध क्षमा चाहता हूँ।

'सम्पादक'—हनुमानप्रसाद पोद्दार

'कल्याण'के पुराने प्राप्य नौ विशेषाङ्क